[illegible] प्रकाश एवं मनोरंजन के साहित्य की विविध विधाओं में सुन्दर, सरस और [illegible] साहित्य प्रकाशित कर अपना श्रद्धा-स्निग्ध उपहार गुरुदेवश्री के चरणों में [illegible] है।

[illegible] विविध कल्पनाएँ हैं। हम चाहते हैं कि साहित्य के क्षेत्र में प्रस्तुत [illegible] के विषय प्रकाशित करें। वह ज्ञानोपयोगी सुन्दर सचित्र साहित्य भी दे [illegible] के लिए उत्कृष्ट और प्रधान तुलनात्मक दृष्टि से लिखे गए [illegible]। [illegible] ही पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा लिखित "जैन कथाएँ" सीरीज के [illegible] हो। [illegible] के उत्कृष्ट ग्रन्थ निकले। यह तभी सम्भव [illegible] महानुभावों का हमें अर्थ-सहयोग प्राप्त होगा। हमारी सभी [illegible] करेंगी। हमें आशा ही, नहीं अपितु दृढ विश्वास है [illegible] सफल होगा।

—मंत्री
श्री तारकगुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

[illegible] ने कहा—भगवन् ! मुझे निर्ग्रन्थधर्म पर अपार श्रद्धा है। आपश्री के पावन उप-[illegible] को श्रवण कर अनेक राजा, युवराजा, उम्रमेठ, सेनापति, सार्थवाह मुण्डित होकर [illegible] का परित्याग कर श्रमण बने है, पर मैं श्रमण बनने मे समर्थ नही हूँ। [illegible] पञ्चाणुव्रत रूप गृहस्थधर्म को स्वीकार करता हूँ। तात्पर्य यह है कि जैन श्रमणोपासक गृहस्था-[illegible] को अपना सच्ची कर्मठता मानता है, पर उसे वैदिक परम्परा की तरह आदर्श [illegible] मानता। यही कारण है कि श्रमण संस्कृति का रुझान श्रमणधर्म की ओर विशेष [illegible] है। तथापि जैनागम साहित्य मे अनेक स्थलो पर कही सक्षेप मे और कही विस्तार [illegible] श्रावक जीवन के सम्बन्ध मे चिन्तन किया है। और वह चिन्तन इतना महत्व [illegible] है कि उसके पश्चात् निर्मित ग्रन्थो मे उस पर विस्तार से विश्लेषण हुआ है। हम [illegible] साहित्य मे यत्र-तत्र आये हुए श्रावक धर्म के सम्बन्ध मे चिन्तन को [illegible] करके उसके पश्चात उसी चिन्तन पर आधृत स्वतन्त्र ग्रन्थो का परिचय [illegible]।

[illegible] श्रमणोपासकों का अन्तर्मानस कदाग्रह से ग्रस्त होता है। यदि श्रमण हित-बुद्धि से उसके कदाग्रह को छुड़वाने का उपदेश देते हैं तो वह उपदेश देने वाले श्रमण को भी दुर्जन कहता है। उसकी तुलना काटे से की गई है। जैसे काँटा जिस वस्त्र में लगता है उस वस्त्र को फाड़ देता है, जो काटे को निकालता है उस हाथ को भी वीध [illegible] है। वैसे ही वह श्रमणोपासक होता है।[६]

[illegible] के पांचवें स्थान में पांच अणुव्रतों का वर्णन है, वहाँ केवल पांच [illegible] के नाम गिनाये गये हैं, जैसे—स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावाद [illegible] स्थूलअदत्तादानविरमण, स्वदारसन्तोष, इच्छापरिमाण[७]। इस प्रकार [illegible] के श्रमणोपासक के जीवन में सम्मिलित बिखरा हुआ चिन्तन है।

[illegible] भी स्थानांग की तरह कोश-शैली में लिखा हुआ है। उसमें [illegible] प्रतिमाओं का उल्लेख है—(१) दर्शन श्रावक, (२) कृत व्रतकर्म (३) [illegible] (४) पौषधोपवास निरत, (५) दिन में ब्रह्मचर्य का पालन और रात्रि [illegible] (६) दिन और रात्रि में ब्रह्मचर्य का पालन, अस्नान, [illegible] परिग्रह परित्याग, मुकुट त्याग, (७) सचित्त परित्याग, [illegible] परित्याग (८) [illegible]

और उसके सम्बन्ध में भगवान महावीर से विचारचर्चा करना उसके साहस का परिचायक है।

भगवतीसूत्र में कार्तिक श्रेष्ठी के द्वारा एक सौ बार पाँचवी प्रतिमा धारण करने का उल्लेख मिलता है। इस तरह भगवती में क्रमशानुसार श्रावक जीवन पर चिन्तन किया गया है। उनका आदर्श जीवन जन-जन के लिए प्रेरणादायी है। पर श्रावक की इन प्रतिमाओं पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन नहीं किया गया है।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र में कथाओं के माध्यम से जीवन और दर्शन के गंभीर रहस्य सुलझाये गये हैं, किन्तु उसमें भी पृथक् रूप से श्रावकधर्म के सम्बन्ध में विश्लेषण नहीं किया गया है।

उपासकदशासूत्र में भगवान महावीरकालीन दस श्रावकों का वर्णन है। [illegible] चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, शकडालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और सालिहीपिता। इनमें सर्वप्रथम आनंद श्रावक [illegible] श्रावक प्रवचनों को सुनकर श्रावक के बारह व्रतों [illegible] अतिचारों के नाम, ११ प्रतिमाओं का उल्लेख और [illegible] का वर्णन है।[12] प्रस्तुत आगम में श्रमणोपासकों [illegible] गई है और वे उन सभी परीक्षाओं में पूर्ण रूप

पर स्वतन्त्र विस्तार से लिखा है। दिगम्बर विद्वान भी पीछे नहीं रहे हैं। मूर्धन्य मनीषियों का अभिमत है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानों द्वारा लिखा हुआ श्रावकाचार [illegible] एक लाख श्लोक से भी अधिक परिमाण वाला है। हम यहाँ पर अब [illegible] श्वेताम्बर ग्रन्थों का परिचय देंगे और उसके पश्चात् दिगम्बर ग्रन्थों का, जिससे पाठकों को ज्ञात हो सके कि जैनाचार्यों ने श्रावकाचार पर कितना लिखा है।

श्वेताम्बर परम्परा में

[illegible] उमास्वाति—आचार्य उमास्वाति का जैनदर्शन में अनूठा स्थान रहा [illegible] उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, [illegible] विज्ञान, कर्मसाहित्य प्रभृति अनेक विषयों पर उसमें सुन्दर [illegible] सूत्र के सातवें अध्याय में बहुत ही संक्षेप में श्रावकों के व्रत, [illegible] अतिचार का प्रतिपादन किया है। किन्तु श्रावक [illegible] का विस्तृत वर्णन नहीं हुआ है।

[illegible] की स्वोपज्ञ कृति 'श्रावक प्रज्ञप्ति' है। इस ग्रन्थ में चार सौ तीन [illegible] प्राकृत भाषा में लिखा गया है। इस पर [illegible]। ग्रन्थ के नाम से ही 'श्रावक' शब्द पर लिखा [illegible] जो सम्यग्दृष्टि साधुओं के पास उत्कृष्ट समाचारी [illegible] है। इसके पश्चात् ग्रन्थ में श्रावक के बारहव्रतों

की रचना की। उन्होंने उस ग्रंथ के प्रारंभ में 'श्रावक' शब्द की व्युत्पत्ति देकर आचार्य हरिभद्र के द्वारा प्रतिपादित ३५ मार्गानुसारी गुणों को सम्यक् प्रकार से समझाने के लिए भिन्न-भिन्न कथाएँ दी है जिससे सहजतया वे गुण हृदयगम हो सकें।

१७वीं सदी के आचार्य रत्नशेखर सूरि "श्राद्ध विधि"[२६] ग्रंथ के रचयिता हैं। उन्होंने वि० सं० १४०६ में "विधि कौमुदि" नामक वृत्ति का निर्माण किया जिसकी श्लोक संख्या ६७२१ है। टीका में अनेक कथाएँ है। ग्रंथ के प्रारंभ में श्रावक के [illegible] गुण बताये गये हैं—मध्यप्रकृति, विशिष्ट निपुणमति, न्यायमार्गीय वृत्ति [illegible]। प्रस्तुत ग्रन्थ में छः द्वार है—दिनकृत्य, रात्रिकृत्य, पर्व-[illegible] कृत्य और जन्मकृत्य। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रावक के योग्य [illegible] का उल्लेख किया है। वे गुण इस प्रकार है—अक्षुद्र, स्वरूपवान्, प्रकृति-[illegible], सौम्य, लाभ, सदाक्षिण्य, लज्जालु, दयालु, मध्यस्थ, गुणा-[illegible] सुदीर्घदर्शी, विशेषज्ञ, वृद्धानुगामी, विनीत, कृतज्ञ, परहित-[illegible]। प्रस्तुत ग्रन्थ में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप की [illegible] भावनिक्षेप से श्रावक के तीन प्रकार बताए है—[illegible] गुण श्रावक। इस ग्रंथ में बारह व्रतों के भंगों की [illegible]। श्रावक शब्द पर चिन्तन करते हुए श्रावक में तीन [illegible]

[illegible] सामायिक व्रत में आसन, वस्त्र, काल आदि का वर्णन किया है, तथा प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत में उपवास न कर सकने वालों के लिए एकभक्त, निर्विकृति आदि [illegible] का विधान है और सोलह प्रहर के उपवास का विधान किया है। उन्होंने [illegible] अतिचारों में भेदों का कोई उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार दिगम्बर [illegible] में श्रावक धर्म का व्यवस्थित प्रतिपादन करने वाले ये प्रथम आचार्य हैं।

[illegible] समन्तभद्र ने सर्वप्रथम दिगम्बर परम्परा में श्रावकाचार पर स्वतन्त्र [illegible] की रचना की। उनकी 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार'[३१] बहुत ही महत्त्वपूर्ण रचना है। [illegible] सम्यग्दर्शन की महिमा पर प्रकाश डाला है।

है।[२] उसके पश्चात् मद्य, मास, मधु और पाँच उदबर फलो के त्याग को अष्टमूल गुण बताया है।[३] आचार्य जिनसेन ने मूल गुणो मे पाँच अणुव्रतो को और सोमदेव ने पाच उदबर फलो के त्याग को महत्त्व दिया है। और दोनो ने अपने कथन की पुष्टि के लिए "उपासकाध्ययन"[४] का उल्लेख किया है। पर वह कौन-सा उपासकाध्ययन था जिसके आधार पर उन्होने अपने विचार व्यक्त किये यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। आचार्य सोमदेव ने मद्य आदि का उपभोग करना सर्वथा अनुचित माना है। वह महाशय है, उन्होने उसके परित्याग पर अत्यधिक बल दिया। उन्होने लिखा—जो मास का भक्षण करते है उनमे दया का अभाव होता है। मद्य पीने वाले मे सत्य का अभाव होता है। मधु और उदबर फल [illegible]

किया है। सर्वप्रथम दार्शनिक श्रावक को सप्तव्यसन[४६] का त्याग आवश्यक माना है। उन्होंने मद्य त्याग के त्याग पर अत्यधिक बल दिया है। १२ व्रत और ११ प्रतिमाओं का वर्णन प्राचीन परम्परा की दृष्टि से किया है।

पं० आशाधर जी ने "सागारधर्मामृत" ग्रंथ की रचना की। लेखक ने अपने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों का पारायण किया। अत उन्होंने श्रावकधर्म के सभी मुख्य अंगों का स्पर्श किया है। उनके ग्रन्थ में "नीतिवाक्यामृत' और आशाधर के 'प्रज्ञप्ति' का स्पष्ट प्रभाव है। अतिचारों के वर्णन के लिए उन्होंने श्वेताम्बर ग्रन्थों का उपयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम सप्त व्यसनों के [illegible] का वर्णन किया गया है। श्रावक की दिनचर्या और उसकी समाधि पर [illegible]।

किया है। मद्य त्याग के अतिचार दोष बताकर उनके त्याग पर बल दिया है। अष्टमूलगुणों के निरूपण करते हुए व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत १२ व्रतों का निरूपण किया है और प्रतिमाओं के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है।

सिद्धकोटि रचित 'रत्नमाला' ग्रन्थ में श्रावक के द्वादश व्रतों के साथ मुनिजनों को [illegible] आदि देने के सम्बन्ध में भी संकेत किया है। विभिन्न प्रकार के [illegible] उनका ग्रहण और उनके निषेध भी बताये गये हैं।

'पद्मनन्दि' के पर्व १८ में श्रावकाचार का निरूपण है। पच्चीस श्लोकों [illegible] किया है।

[illegible] व्रतों

(३) नमस्कार महामंत्र पर उसकी पूर्णनिष्ठा होती है।[४३]

'सम्यक् श्रावक' के लिए निम्न विशेषताएँ आवश्यक मानी जाती हैं—

(१) वह देव गुरु, धर्म पर पूर्ण निष्ठा रखता हुआ स्थूल हिंसा से निवृत्त रहता है।

(२) मद्य, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का परित्याग कर धर्म योग्य मार्गानुसारिता आदि सद्गुणों से उसका जीवन जगमगाता है।

(३) वह प्रतिदिन 'षट्कर्म[४४]' की साधना करता है। वे षट कर्म इस

[illegible] किया गया है कि इन प्रतिमाओं की साधना वर्तमान युग में [illegible]

[illegible] का सम्पादन करते समय मुझे परम स्नेही सन्त मानस कलम-कलाधर, [illegible] मुनि श्री हेमचन्द्रजी का हार्दिक सहयोग मिला है। उनके सहयोग के [illegible] का सम्पादन कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सका है। एतदर्थ मैं उन्हें जितना भी [illegible]

के अतिचार—वध, बंध, छविच्छेद, अतिभार, भक्तपानविच्छेद १६८-६६।

सत्य जीवन का मंत्र १७०-१६५

अहिंसा के साथ सत्य आवश्यक है १७०, मानव-जीवन की नींव सत्य पर टिकी है १७१, सारे विश्व का मूलाधार सत्य १७२, सत्य-रहित वस्तु निस्सार है, निष्प्राण है १७२, सत्य की गर्मी हो, तभी [illegible] का अस्तित्व है १७२, सत्य हो तो दूसरे दुर्गुण [illegible] हो सकते हैं १७३ सत्य ही नैतिक तत्व है १७४, सत्य ने सारे [illegible] (दृष्टान्त) १७४-७५, सत्य ने अन्य सद्गुणों के द्वार [illegible] १७५-१८०, सत्य का बल सबसे बड़ा बल १८१, सत्य-[illegible] १८२-१८३, निरन्तरी सफलताओं का आधार सत्य [illegible] १८६, नास्तिक भी सत्य की शक्ति को [illegible] १८७, [illegible] का आधार सत्य १८८, व्यवहार [illegible] १८९ सत्य एक बुनियादी वस्तु १६१, सत्य [illegible] विभूति १६४, सत्य पुण्य की खेती

सामाजिक और आत्मिक लाभ ३१२, मानव जीवन की सार्थकता [illegible] स्व में विषयोपभोग में नहीं ३१३, गृहस्थ-जीवन में ब्रह्मचर्य [illegible] आवश्यक क्यों ३१४, गृहस्थजीवन में ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण न करने [illegible] ३१५ सहित में निश्चिन्त समय (दृष्टान्त) ३१६-३२०, श्रावक के ब्रह्मचर्यव्रत की मर्यादा ३१६ विवाह काम-वासना को नियमित करने का [illegible] ३२१, विवाह किसके लिए आवश्यक, किसके लिए अनावश्यक ३२२ विवाह के उद्देश्य [illegible] कर्तव्यों का पालन ३२५, विवाह : विषय-[illegible] की दवा (चाबुक) ३२८, स्वपत्नीसन्तोष—परदारविरमणव्रत [illegible] ३२९ परस्त्री सेवन में अपार हानियां ३३०, स्वदारसंतोष-[illegible] ३३१, स्वदारसन्तोषव्रत की मर्यादाएँ ३३१, स्वदार-[illegible] के प्रति मानसिक आकर्षण ३३४, ब्रह्मचर्य-रक्षा के उपाय [illegible] ब्रह्मचर्यव्रत के पांच अतिचार ३३७, (१) इत्वरिक परि-[illegible] ३३ (२) अपरिगृहीतागमन ३३७, (३) अनंगक्रीडा ३३८, [illegible] ३३८ (५) कामभोगतीव्राभिलाषा ३३८।

पर उनमें स्वयं किसी का उपकार करने की सद्भावना प्राय नही होती। उ
भावना के अभाव मे जो राग मनुष्यो के लाभ के लिए उनके द्वारा किये जाते है,
पुण्यरूप नहीं बनते। कोई पशु दूसरो के हित के लिए अपने शरीर का उत्सर्ग कर दे
उसमे उसे पुण्यलाभ हो सकता है, मगर उसे विवश होकर बलात् शरीर त्यागना
पडे तो वह आत्मज्ञानी या पुण्यशाली थोडे ही कहलाएगा। मेघरथ राजा श्येन
[illegible] के बदले बाज को अपना मांस तोलकर देने को उद्यत हो गए, राजा शिबि
[illegible] की अपनी जांघ के बदले सिर को अपना शरीर सौंप दिया। इस प्रकार
[illegible] करने वाले पुण्यशाली एव इतिहास प्रसिद्ध भी हुए। इसी प्र
[illegible] ने कुछ लाभ उठा लिया तो उसमे उन्हे सद्गति का अधिक
[illegible] जाता। तात्पर्य यह है कि उनमे भावना एव बौद्धिक विकास का अभा
[illegible] उन्हे सर्वोत्कृष्ट पुण्य-फल से वचित रहना पडता है। ऐ
[illegible] कहते है। वहाँ कोई दुखी, दरिद्री ही नही है, तो उसे
[illegible] कौन ? वहाँ कोई समस्याएँ नही, वहाँ सुखसाधनो की
[illegible] कौन मिलेगा ? देव भौतिक वैभव और सुख सामग्री
[illegible] भी आध्यात्मिक विकास करना नही कर सकते। वे
[illegible] मे आते है। इसलिए देवगति से भव-मुक्ति

[illegible] पर व्यक्ति जागृत और अनासक्त रहना है और प्रतिकूल परिस्थितियो मे समता, साहस, उत्साह के साथ कदम बढाना है। विकट परिस्थितियो मे अपने को स्थि[illegible] करने का माद्दा ऐसे जीवन मे होता है। कलापूर्ण जीवन विधि का विकास होता है [illegible] समाज मे सम्मानपूर्वक जीवन जीने की महत्त्वाकाक्षा होती है।

प्रथम दर्जे की जीवन-पद्धति वस्तुत मानवीय जीवन पद्धति नही, वह [illegible] पशु पद्धति है। पशुओ मे बुद्धि का विकास न होने से उन्हे किसी भी प[illegible] स्थिति विशेष मे असन्तोष नही होता, जैसी जो कुछ स्थिति प्राप्त है, उसी मे [illegible] काम चलाते रहते हैं। इसी प्रकार पशु पद्धति के लोगो को भी समय का प्र[illegible] [illegible] हो जाता है चल पडते है। परिस्थितियो ने मारा, चुपचाप [illegible] सह लिया। [illegible] सयोग मिला, उठकर चल पडे, अन्य [illegible] [illegible]। यह भी कोई जीवन है। पशु की तरह सारी, पी[illegible] [illegible] के सहारे या आशा करके जिदगी पूरी कर देने मे गुरुतुल्य भाव

ी श्रेष्ठ है ? अपनी प्रखर बुद्धि द्वारा विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने अगणित
न-सुविधाएँ प्राप्त कर ली हैं । स्विच दबाते ही कमरा प्रकाश से जगमगा उठता है,
ा बटन घुमाते ही हवा करने लगता है, नल खोलते ही गंगा-जमुना आपके
स्नान-पानादि के लिए तैयार हो जाती है । धरती पर चलना हो, आकाश में उड़ना
, या पानी पर तैरकर चलना हो तो मनुष्य को अपने पैरों को तकलीफ देने की
आवश्यकता नहीं पड़ती । रसोई बनाने, कपड़े धोने, सफाई करने आदि प्रत्येक कार्य
र के लिए विविध वैज्ञानिक यंत्र मनुष्य की सेवा में उपस्थित रहते हैं । मनुष्य को हाथ-
ैर हिलाने की जरूरत नहीं । परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि इतना सब होते हुए भी
या आपकी बुद्धि ने कभी यह विचार नहीं करना कि संसार में अशान्ति
ा दुःख क्यों है ? और इस अशान्ति को दूर करने के लिए मैं क्या कर सकता

करने में आगे बढ़ने की होती तो कितना अच्छा होता ! सीधी-सी बात यह है कि विज्ञान से सुख और शान्ति प्राप्त नहीं होती। सुख-शान्ति अच्छे मनुष्यों से उत्पन्न होती है और अच्छे मनुष्य बनाना विज्ञान के वश की बात नहीं।

राजनीति से जगत् में सुख-शान्ति सम्भव नहीं

एक प्रश्न होता है—क्या राजनीति संसार में सुख-शान्ति उत्पन्न करने में सफल हो सकती है ? इसका उत्तर भी नकार में आयेगा। क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र में विश्व में तीन प्रमुख वाद हैं—पूँजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद। ये तीनों ही परस्पर [illegible] शान्तिवाद एवं लड़ाई-झगड़ा करके एक दूसरे को नष्ट कर देने पर [illegible]। तीनों वादों का लक्ष्य एक होते हुए भी ये तीनों परस्पर संघर्ष कर रहे [illegible] राजनीति में सच्ची शान्ति की सबका लक्ष्य रहता है, राष्ट्र की या [illegible] परन्तु रोटी-रोजी की समस्या को हल करने का दावा तो करते [illegible]। राजनीतिज्ञों का पारस्परिक संघर्ष या जनता [illegible] मनुष्यों के लिए अधिक दुःख या अशान्ति [illegible]।

[illegible] करके व्यय तो अच्छा दिखाना, अपने धन-वैभव का प्रदर्शन करके प्रसिद्धि पा लेना, अपनी दूकान अच्छी जमा लेना, व्यापार-धधा धडल्ले से चलाना, यो किसी तरह से जिंदगी के दिन पूरे कर लेना और एक दिन इस ससार से कूच कर जाना ही मानव-जीवन का उद्देश्य समझते है। वे इसी तुच्छ एव अवास्तविक जीवन-प्रयोजन की पूर्ति के लिए रात-दिन इसी हाय-हाय मे पडे रहते है। क्या इसी तुच्छ प्रयोजन के लिए ही उसे इतना उन्नत शरीर, सर्वोत्तम विचारशील मन, तथा भावाभिव्यक्ति के लिए आजस्वी वचन एव बहुमूल्य, देवदुर्लभ तथा सर्वशक्ति-सम्पन्न मानव-जीवन मिला है? अगर केवल खाना-पीना, कमाना और जैसे-तैसे जिंदगी पूरी कर लेना ही मानव जीवन का उद्देश्य होता तो उसमे और पशुपक्षियो मे कोई अन्तर न होता। कीट-पतग, या पशु-पक्षी भी तो यही करते है। कीडे-मकोडे भी खाते पीते, सोते और बच्चे पैदा करते है। पशु-पक्षियो को भी आहार, निवास आदि का प्रबन्ध करना पडता है। वे भी जन्म लेते है, खाते पीते है, जीवनयापन के साधनो को अपनी [illegible] पूर्ति और इच्छा मे किसी भी प्रकार पूरे कर लेते है, और एक दिन मर जाते [illegible]। [illegible] मानव-जीवन का उद्देश्य इतना ही [illegible]

को प्राप्त करना है, जिसके प्राप्त करने के बाद कुछ भी पाना शेष न रहे और न ही उसकी इच्छा हो।

पूर्णता की प्राप्ति मे विघ्न, कारण, निवारण

जैसा कि मैंने पहले बताया था कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य पूर्णता, मुक्ति या परमानन्द को प्राप्त करना है, तब सहसा प्रश्न उठता है कि उस पूर्णता की प्राप्ति मे विघ्न क्यो आ जाते है ? उन विघ्नो को दूर करने का तरीका क्या है ? पूर्णता की प्राप्ति के लिए साधन क्या हो सकता है ?

यदि वर्तमान मानवजाति पर विचार किया जाय तो मनुष्य आज जिन बातो को पूर्णता के लिए अपनाता है और सदा-सर्वदा के लिए सन्तुष्ट हो जाना चाहता है, वे सब नश्वर है, असत् है मिथ्या भ्रान्तियां है। अपूर्णता ही उनका स्वरूप है। [illegible] सत्ता, बुद्धि, विद्या आदि चीजो की पूर्णता की पूर्ति के लिए आवश्यक [illegible] उनका धोखा देने वाली मिद्ध होती है। इन चीजो को पाकर वह मोह [illegible] कुछ ही वर्षों बाद जब सम्पत्ति और सत्ता समाप्त होने लगती है [illegible] ऐसी ही परिस्थिति आ जाती है। एक ओर से वह अभावो को [illegible] करता है तो दूसरी ओर से नाना प्रकार के अभाव मुँह बा [illegible]। अन्त उसी भौतिक कामनाओ की धमाचौकडी मे जिसमे [illegible]। उसकी स्थिति उस धोबी के कुत्ते की सी हो जाती है, जो [illegible]। न तो उसने अपनी आत्मिक सम्पदा बढाने का [illegible] के कल्याण के लिए कुछ किया। यो सासारिक उपल [illegible] पूर्णता का भ्रम पालकर मनुष्य हृदय मे ससार मे [illegible]

की दृष्टि से भौगोलिक या राजकीय सीमा सूचक भेद रहेंगे, पर मन में सबके साथ अभेद, मैत्री या वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना होगी, ऐसी दशा में धर्म के विभिन्न अंगों का पालन सहजभाव से हो सकेगा। धर्माचरण उसके जीवन का अंग बन जाएगा। धर्म ही एक ऐसा माध्यम है, जो मानव को पूर्णता के शिखर पर क्रमशः ले जा सकता है। परन्तु पूर्णता के शिखर पर पहुँचने के लिए धर्मपालन का पद-पद पर जागृति-पूर्वक पुरुषार्थ करना होगा। तभी मानव-जीवन की श्रेष्ठता, ज्येष्ठता और विशेषता सिद्ध होगी। आज भी उसी पथ पर चलकर मानव-जीवन की श्रेष्ठता और विशेषता को सिद्ध करने वाले साधक चरण बढ़ेंगे। ☆

जो छात्र परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है, उसके बारे में यही माना जाता है कि उसने पर्याप्त श्रम नहीं किया और दण्डस्वरूप उसे एक वर्ष तक पुनः उसी पुरानी कक्षा में पढ़ते रहने दिया जाता है।

चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके जीव को अपने को सुधारने और सन्मार्गगामी बनने की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। वह पढ़ाई पूरी होने पर उसे मनुष्य जीवन का एक अत्यन्त अवसर परीक्षाकाल जैसा मिलता है। उसमें मनुष्य को यह सिद्ध करना पड़ता है कि उसने कितनी आत्मिक प्रगति की, अपने को कितना सुधारा, अपना दृष्टिकोण कितना परिमार्जित किया और उच्चभूमिका की ओर अग्रसर होने की ओर कितना प्रयाण किया? मानव जीवन का प्रत्येक दिन मनुष्य के लिए एक परीक्षा है। एक महाकवि ने मानव के सामने यह प्रश्नावली हल करने के लिए प्रस्तुत की है—

जैसे सरकारी कानून को सरकार दण्डशक्ति द्वारा पालन करवाती है, फिर भी कई लोग उसमे गडबड कर डालते है। इसीलिए धर्म का स्थान सरकारी कानून से ऊँचा है। उसका पालन अगर किया जा सकता है तो व्रतो के माध्यम से ही। मनुष्य जब स्वेच्छा से व्रत ग्रहण करता है, तभी वह अपने जीवन मे धर्माचरण यथेष्ट रूप मे कर सकता है, धर्म-मर्यादा मे चल कर अपने और दूसरो के जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकता है ?

सकता तो समाज, राष्ट्र और विश्व को कैसे चलाया जा सकता है ? जैसे दो तटों के बीच में बहने वाली नदी निर्विघ्नतापूर्वक समुद्र तक पहुंच सकती है, वैसे ही यम-नियम रूप व्रतों के अनुशासन में चलने वाली आत्मारूपी सरिता परमात्म सिन्धु तक निर्विघ्न पहुंच जाती है। व्रत स्वेच्छा से ग्रहण करने के कारण आत्मानुशासन है। ये जीवन और जगत् में सुव्यवस्था पैदा करते हैं। जगत् का विकास, सुरक्षा और शान्ति अनुशासन पर निर्भर है और व्रत जीवन में अनुशासन पैदा करते हैं। सूर्य और चन्द्रमा सदा नियमबद्ध हैं। वे अनुशासन में रहते हैं, नियमानुसार समय पर उदय और अस्त होते हैं। यदि वे अनुशासन में न रहें तो बहुत गड़बड़ हो जाए। [illegible] का कालनिर्णय होता है और शुद्ध पंचांगों की रचना की जाती है। [illegible] में इतनी सूक्ष्म गणना दी है कि ये नियमानुसार उदय और [illegible], उनमें जरा अन्तर का मुल्यांकन पाया है। मूलगत बन्धन के बिना जैसे [illegible] बिखर जाते हैं, वैसे ही अनुशासन की [illegible] जीवन की कड़ियां भी छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। घड़ी भी अनुशासन [illegible] समय देती है। यदि रेलगाड़ी पटरियों पर न चलकर [illegible] पर पड़े तो स्वयं भी नष्ट होती है और उसमें बैठे हुए यात्री [illegible]। [illegible] मानव-जीवन में अब से इति तक अनुशासन पर चलने की [illegible]

"आपकी विजय के उपलक्ष्य में यह अनुपम सुन्दरी भेंट देने के लिए लाये हैं, आप उसे स्वीकार करें।"

शिवाजी ने यह सुनकर और उसका अनुपम सौन्दर्य देखकर कहा—"मैं इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ? अगर मेरी माँ इतनी सुन्दर होती तो मैं भी सुन्दर होता। जाओ, इसको सम्मान सहित इसके पति के पास पहुँचा आओ। और मेरी ओर से यह लिखित शुभ सन्देश दे देना।"

उक्त महिला शिवाजी के दृढ़ व्रत को देखकर दंग रह गई। उसने हाथ जोड़ और सम्मान अपने पति के पास पहुँची। शिवाजी के उत्तम चरित्र से वह सिपाही अत्यन्त प्रभावित हुआ।

यह है ब्रह्मचर्य में अटूट निष्ठा का प्रभाव।

देशेषु' (अर्थात्-मुण्डन, यज्ञ, उपनयन, नियम, व्रत ग्रहण) अर्थ में है। इस दृष्टि से नियम और व्रत ग्रहण करने के अर्थ में दीक्षा शब्द का प्रयोग होता है। दीक्षा एक प्रकार की जिम्मेवारी है। इसी प्रकार व्रत ग्रहण करना भी एक उत्तरदायित्व है जिसे लेकर मानव अपने जीवन को निर्विघ्नता से सकुशल पार कर लेता है।।

महात्मा गांधी ने जब राष्ट्रसेवा का व्रत लिया तो उन्होंने इस व्रत की जिम्मेवारी समझी थी। उन्होंने अपनी धर्मपत्नी कस्तूरबा को कह दिया कि अब जबकि हमने राष्ट्रसेवा का व्रत ले लिया है तो हमें अब सन्तान पैदा करने का अधिकार नहीं। एक [illegible] भरे और तुम्हारी कोख बच्चे भी पैदा करते जायें, यह अपने [illegible] अब मेरी इच्छा पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने की है, [illegible] क्या इच्छा है? कस्तूरबा तो इसके लिए तैयार थी, उन्होंने तुरन्त [illegible] अपनी स्वीकृति दे दी। उसके बाद गांधीजी ने स्वयं राष्ट्रपिता [illegible] और कस्तूरबा ने भी कहा—'अब तुम केवल अपने ही [illegible] सभी बालक तुम्हारे पुत्र-पुत्रियां हैं।"

[illegible] ने भी राष्ट्रसेवा की जिम्मेवारी निभाई। यह था व्रत के साथ [illegible] व्रत ग्रहण को भारतीय संस्कृति में एक प्रकार की

आपका दमन किया जाय ? क्यों हम अपनी स्वतंत्र इच्छाओं को दबाएँ ? ऐसा जीवन, जिसमें पग-पग पर अनेक बंधनों में अपने आपको जकड़ लिया जाता है, नीरस, मनहूस और मुर्दा-सुर्दा बन जाता है। उस जीवन में एक नया अहंकार जो दूसरों से अपने को उत्कृष्ट मानने एवं मद के नशे से ओतप्रोत होता है, पैदा हो जाता है। इसलिए व्रत ग्रहण करके अपनी स्वतंत्रता पर चोट करना बहुत हानिकारक है।

एक ऐसा प्रबल सम्प्रदाय भी है, उसका कहना है कि अमुक नियमों का पालन करना उचित है, पर उसके लिए व्रत लेने की क्या आवश्यकता है ? व्रत लेना मन की निर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। उसका कहना है कि किसी व्रत का लेने के बाद यदि वह अड़चन पैदा करता हो और पापरूप न लगता हो तो उसे पकड़े रहना तो और भी अधिक खतरनाक होगा। ऐसी हालत में व्रत स्वतन्त्रता का घातक होता। इसलिए व्रत वगैरह जंजाल है भारभूत है। [illegible] सारी बंधन में डालना है। ऐसे लोग यह आक्षेप भी करते हैं कि [illegible] के तौर पर शराब पीना अच्छा है इसलिए नहीं पीनी चाहिए, पर कभी [illegible] ऐसा की शांति उसे पीने में क्या हर्ज है ? उसे न पीने का [illegible] के समान है। जो लोग शराब के बारे में ऐसा कहते [illegible] के बारे में कहते हैं। अरे भी भलाई के लिए क्यों न बोला

सकता। इसलिए व्रत बन्धन नहीं, अपितु अपने जीवन के गठन, दृढ निश्चय, वीरता एव समाज विश्वास के लिए स्वेच्छा से स्वीकार है।

मुझे कई आध्यात्मिक लोग ऐसे भी मिले, जिन्होने कहा—"हमने ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं लिया, फिर भी हम ब्रह्मचारी हैं, हम सत्य आदि व्रत लेकर अपने को नाहक बाँधने नहीं, हमें सत्य प्रिय है, इसलिए हम उसका पालन करते हैं।" मैंने उनसे कहा—सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन मे समूह की साक्षी से व्रत ग्रहण किये बिना समाज एव राष्ट्र को कोई प्रतीति नही होती, व्रत ग्रहण न करने वाले का मन किसी भी समय डोला हो सकता है। इसलिए लोकप्रतीति के लिए समूह मे व्रत ग्रहण करना आवश्यक है।

करना चाहिए। हम ब्राह्मण है, क्षत्रिय हैं, अग्रवाल वैश्य है अथवा हरिजन या वैष्णव हैं, हम इन्हे कैसे ग्रहण कर सकते है ?

यह कहने वालो ने धर्म के सार्वजनिक स्वरूप को नही समझा है। अहिंसा, सत्य आदि धर्म के अगो या व्रतो पर किसी की बपौती नही है, किसी एक ही धर्म-सम्प्रदाय का उस पर अधिकार नही है, न किसी एक जाति, कुल, कौम, प्रान्त, राष्ट्र या देश का ही उनके पालन पर प्रतिबन्ध है, और न ही किसी समय या परिस्थिति मे इन व्रतो का पालन असम्भव या ये अग्राह्य है। सभी धर्मसम्प्रदायो, तमाम देशो, समस्त जाति-कौमो, सर्व राष्ट्रो, प्रान्तो या क्षेत्रो मे, सम्प्रदायो मे, व्रतो का पालन हो सकता है। जैनधर्म ने महाव्रतो या अणुव्रतो के पालने पर किसी भी व्यक्ति, जाति, देश काल आदि का प्रतिबन्ध नही लगाया है।

बात महाव्रतो के पालन के सम्बन्ध मे कही गई है, वही बात अणुव्रतो तथा अन्य उन व्रतो के पालन के सम्बन्ध मे समझ लेनी चाहिए। इसलिए व्रतो को सार्वभौम कहा गया है।

जीवन मे व्रती श्रावक को भी सदा जागरूक रहकर व्रतो का पालन करना आवश्यक है। समस्त भूमिका के लोग व्रतो का ग्रहण और पालन कर सकते है। एक गाड़ी चलाने वाला भिखारी हो, मजदूर हो, या झोंपडी मे रहने वाला गरीब हो, चाहे एक महलो मे रहने वाला राजा हो, धनकुबेर सेठ हो, या जमीदार हो, सभी इन व्रतो का ग्रहण, आराधन एव पालन कर सकते है।

इस स्वतन्त्रता है

बताया था। अगर आज विभिन्न राष्ट्रों के नेता एवं राजनीतिज्ञ व्रतबद्ध हो जायें और व्रत के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय आचारसंहिता को स्वीकार करलें तो विश्वशान्ति के दर्शन निकट भविष्य में ही हो सकते हैं। व्रताचरण का मार्ग जीवनपथ के रूप में स्वीकार करने पर व्यर्थ के संघर्ष और अशान्ति की सम्भावना नहीं रहती। क्योंकि अहिंसाव्रत का अर्थ यही है कि प्रत्येक नर-नारी के हित साधन का समान विचार रखा जाय तथा अधिक से अधिक मात्रा में कारगररूप में आत्मानुभूति के अवसर प्रदान किये जायें। इसलिए विश्वव्यवस्था की दृष्टि से व्रतबद्धता बहुत ही आवश्यक है। व्रतबद्धता ही राजनीतिकों के लिए नियंत्रण है, जो उन्हें उत्पथ पर जाने से रोक सकती है।

मनोबल क्षीण कर लेता है। फिर तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुविधानुसार व्रत का अर्थ निश्चित करके उसे ही आदर्श मान लेगा। इसप्रकार व्रतो की मूलस्पर्शी आदर्श व्याख्या को कम करके उन्हे मूल स्थान से नीचे उतार देना अपने पतन को न्योता देना है। वैसे देखा जाय तो जो पूर्ण है, वही सत्य है, वह आदर्श है, जो अपूर्ण है, वह आदर्श नही होता। आदर्श का मार्ग सीधा है ऊर्ध्वगामी है, और आदर्श को नीचे गिराने का मार्ग अधोगामी एव टेढामेढा है। उसमे मनुष्य छटकने का द्वार ढूंढता रहता है।

महात्मा गांधी यद्यपि साधु नही बने थे, तथापि गृहस्थ जीवन मे रहते हुए उन्होंने व्रतो का आदर्श समझ लिया था। वे जानते थे कि पूर्ण आदर्श इस जीवन अप्राप्य है, लेकिन आदर्श को लेशमात्र भी घटाना उन्हे पसद नही था। बल्कि दर्श प्राप्ति की सभावना न होने के बावजूद भी भरसक प्रयत्न करने मे वे कमी करते नहीं थे।

इसीलिए मैं आपसे पुन पुन कह रहा हूँ आप अपने आदर्श को छोटा या ीण मत बनाइए। आदर्श को छोटा या क्षीण बनाने से क्या नतीजा होता है, इस पर पुने एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है—

"अब शीघ्र ही अपने मार्ग का कांटा साफ हो जाएगा।" यद्यपि राजा ने अपने मनोरथ इस लड़के के सामने कई बार दोहराया था, किन्तु अब उन दरबारियों के बहकावे में आ जाने से उसकी मति फिर गई। राजा पर से उसका विश्वास उठ गया। और एक दिन मुंह लटकाए हुए वह राजा के पास पहुंचा। राजा ने प्यार से पुचकारते हुए राजकुमार को बिठाया और पूछा—"कहो बेटा! आज उदास क्यों हो? क्या किसी ने कुछ कह दिया?"

लड़के ने रोनी सी सूरत बनाकर कहा—"पिताजी! आपकी और माताजी की मुझ पर बड़ी कृपा है, मुझे किसी ने कुछ कहा नहीं है। किन्तु जब मैं अपने भविष्य के बारे में सोचता हूँ तो मुझे अपना भविष्य धुंधला-सा नजर आता है।"

राजा बोला—"निश्चिन्त होकर साफ-साफ कहो, तुम्हें क्या चाहिए?" राजकुमार ने कहा—"अब तक मैं आपके अधीन रहा। मैंने अपना स्वतन्त्र रूप से कहीं अपना कोई विकास नहीं किया। अब मैं चाहता हूँ कि मैं स्वतन्त्र रूप से कहीं व्यवसाय करके अपना भाग्य अजमाऊँ। इसके लिए मुझे दस-बीस हजार रुपये चाहिए। फिर मैं स्वतन्त्र मकान में रहकर स्वतन्त्र जीवन-यापन कर सकूँ, इसके लिए मुझे एक स्वतन्त्र मकान मिल जाय, और मैं अपना गृहस्थाश्रम स्वतन्त्र रूप से चला सकूँ इसके लिए किसी भी दासी या साधारण कन्या के साथ मेरा विवाह कर दिया जाय।"

करने जायेंगे तो वह चिन्तन व्यवहार-दृष्टि से होगा, उसमे अनेक विकल्प खड़े हो जाएंगे, ऐसे देहसापेक्ष चिन्तन से आदर्श का मर्यादित रूप ही ध्यान मे आएगा, वह निश्चित ही अपूर्ण होगा। इसके विपरीत आत्मा को साक्षी रखते हुए निश्चय दृष्टि से आदर्श का चिन्तन करते है तो वह देह-निरपेक्ष चिन्तन होगा, वह अमर्यादित और परिपूर्ण होगा। जैसे अहिंसा व्रत का पालन करने मे देहसापेक्ष चिन्तन करते है तो विभिन्न जीव व उनके शरीरादि विकल्प सामने आएंगे और 'न मारने' तक का ही आदर्श सामने आएगा, जो अपूर्ण है। सभी आत्माओ को अपनी आत्मा के समान समझना—इस प्रकार का अहिंसा का सर्वभूतात्मभूत पूर्ण आदर्श उस चिन्तन मे सामने नहीं आएगा। यानी देह भिन्न, निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति अथवा समस्त जीव सृष्टि के प्रति परमात्मभावना की दृष्टि अहिंसा का पूर्ण आदर्श है, जो निश्चय दृष्टि देहनिरपेक्ष भाव मे आदर्श चिन्तन करने मे आएगा। ब्रह्मचर्यव्रत पालन का देहसापेक्ष व्यवहारदृष्टि से चिन्तन करते है तो कामवासना पैदा न होना या वीर्य क्षय न होना इतना मात्र सामने आएगा, जो पूर्ण आदर्श रूप नहीं है। पूर्ण आदर्श रूप निश्चय देहनिरपेक्ष-आत्मदृष्टि से करने पर ब्रह्मचर्य का अर्थ—शुद्धात्म (ब्रह्म) मे विचरण करना होगा। पुरुष और स्त्री सबको आत्मरूप मानना होगा, जो पूर्ण आदर्श है।

—न ऐहलौकिक प्रयोजन से धर्माचरण करे, न पारलौकिक प्रयोजन से आचरण करे, और न कीर्ति, प्रशंसा, प्रशस्ति आदि की आकांक्षा से धर्माचरण करे केवल आर्हंत्पद (वीतराग-परमात्म पद) की प्राप्ति के कारणों से धर्माचरण करे

यही व्रताचरण के विषय में समझना चाहिए । भय से, लोभ से या अन्य सांसारिक प्रयोजन से व्रत-पालन करना उचित नहीं है । आत्मा में शान्ति, समवीतरागता की प्राप्ति के लिए ही व्रतपालन श्रेयस्कर है ।

उस प्रकार व्रतपालन के लिए सतत गतिशील रहने एवं अन्त तक निरन्तर प्रयत्न करते रहने में ही व्रत की सार्थकता है।

व्रती बनने की योग्यता

अब आपको यह भलीभाँति समझ लेना है कि व्रतधारी कौन हो सकता है? कोई साधक चाहे महाव्रत ग्रहण करे, चाहे अणुव्रत, उसके लिए सर्वप्रथम तीन प्रकार के शल्यों का त्याग करना जरूरी है। शल्य तीखे काँटे या तीर को कहते हैं। तीर, काँटा या तीर की नोक जब शरीर में चुभ जाती है तो प्राणान्तक पीड़ा देती रहती है, उसी प्रकार व्रत ग्रहण करने वाले को ये तीनों प्रकार के शल्य जिन्दगी भर पीड़ित करते रहते हैं, उसकी आत्मा को शान्ति प्राप्त नहीं होने देते, न आत्मा का विकास होने देते। इतने भयानक ये शल्य हैं। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्रकार ने व्रती साधक के लिए स्पष्ट शब्दों में कहा है—'नि शल्यो व्रती' अर्थात् व्रती साधक को सर्वप्रथम शल्यरहित होना चाहिए। शल्य तीन प्रकार के हैं—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्या

श्रोता प्रश्न सुनते ही पहले तो चकराए। फिर एक श्रावक ने कहा—"महाराज! यहाँ से लाहौर जाने का रास्ता तो एक ही है, उसी दिशा में जाना पड़ता है और यात्री कई प्रकार के हो सकते हैं—कोई यात्री रेलगाड़ी में जाता है और कोई हवाई जहाज में। पहुँचते दोनों ही लाहौर हैं। एक देर में पहुँचता है, दूसरा तीव्र गति से पहुँचता है।"

"भाई! उसी तरह मोक्ष जाने का रास्ता तो अहिंसा आदि व्रतों का एक ही है। सभी मोक्षपथ के पथिक अन्त में मोक्ष पहुँचते हैं। एक द्रुतगति से मोक्ष पहुँचता है, दूसरा धीमी गति से पहुँचता है। मोक्ष-यात्री दोनों ही हैं, पर दो विभिन्न हैं। एक विमान यात्री की तरह तीव्रगामी यात्री है, दूसरा रेलयात्री की तरह मन्दगामी यात्री है। उसी प्रकार महाव्रती और अणुव्रती को समझो।" मन्त्री ने स्पष्ट कर दिया।

ी समार की समस्त आत्माओं को दुःख होता है, इसलिए अहिंसा, सत्य आदि सर्व
ना आत्मौपम्य या सर्वभूतात्मभूत बनने के लिए है। बाह्य दृष्टि से पालन करने में
वृत्ति या की अपेक्षा से प्रत्येक व्रत के पीछे कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न है। वैसे सभी व्रतों का
समावेश अहिंसा में हो हो जाता है। असत्य बोलना—दूसरे की आत्मा को आघात
पहुंचाना है, चोरी करना भी दूसरे के प्राणों को हानि पहुँचाना है, अब्रह्मचर्य भी
सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवों का घातक है, परिग्रहवृद्धि भी दूसरों को अभाव में डालने
वाली होने से पीड़ाकारक है, इसलिए हिंसा के सिवाय शेष चारों पापों (आस्रवों)
का समावेश हिंसा में है और अहिंसा हिंसानिरोधिनी है, इसलिए शेष चारों का
अहिंसा में समावेश हो जाता है।

उनके ४९ भगों[1] में से श्रावक त्याग की मर्यादा की अपेक्षा ८ प्रकार के होते हैं—

(१) दो करण तीन योग से हिंसादि का त्यागी
(२) दो करण दो योग से ,, ,, ,,
(३) दो करण एक योग से ,, ,, ,,
(४) एक करण तीन योग से हिंसादि का त्यागी।
(५) एक करण दो योग से ,, ,, ,,
(६) एक करण एक योग से ,, ,, ,,
(७) उत्तरगुणधारी श्रावक जिसमें भग नहीं है।
(८) जघन्य श्रावक, जो व्रत ग्रहण नहीं करता, केवल सम्यक्त्वी रहता है।

सम्बन्धी को वचन से और काया से किसी पाप की अनुमति नहीं देता, किन्तु उसके साथ रहने, परिचित होने या उसके सम्बन्धी होने के नाते उसकी मूक अनुमति तो हो ही जाती है। वह स्वयं स्थूल हिंसा आदि नहीं करता, दूसरों से भी नहीं कराता किन्तु गार्हस्थ्य त्यागी न होने के कारण उसने अपने परिवार से ममत्व भाव का छेदन नहीं किया है, अतः परिवार में पुत्र-पौत्र या और कोई परिजन हिंसादिकर्ता हो तो वह उसे न तो सहसा स्वयं छोड़ सकता है, न उसके साथ परिचय का भी सहसा त्याग कर सकता है।

यद्यपि गृहस्थ श्रावक अपने साथ रहने वाले पुत्र-पौत्रादि को हिंसादि करने की प्रेरणा नहीं देता न हिंसादि करवाता है, तथापि उनके साथ रहने के कारण उनके द्वारा की जाने वाली हिंसादि में समर्थनदोष ही नहीं लगता कभी-कभी उसे गृहस्थ कार्य के लिए प्रेरणा भी देनी पड़ती है। उदाहरणार्थ—दो करण तीन योग से व्रत स्वीकार करने वाले ने किसी से कहा—उठो, भोजन कर लो। किन्तु खाने वाला राज्याधिकारी है [illegible] उसे वह सात्त्विक भोजन खिलाकर अपनी ओर मोड़ भी सकता है, अथवा [illegible] राज्याधिकारी है, वह उक्त श्रावक के यहाँ ठहरा है, भोजन [illegible] में जाकर अभक्ष्य पदार्थ खाता है, या अपेय पदार्थ [illegible] श्रावक उसके साथ मर्यादा सम्बन्ध तोड़ ही देता है तो वह [illegible]। ऐसा करके तो उसे सन्मार्ग पर लाया भी जा सकता है [illegible] ऐसा करना सम्भव है।

जाति के अधिकांश लोग स्थूलहिंसा न करेंगे, न करायेंगे, इस बात का तो वह ठेका ले सकता है, लेकिन जो जातीय लोग हिंसा करते-कराते है, उनके साथ सम्बन्ध रखने से अनुमोदनजनित हिंसा से वह बच नही सकता। इस बात को लक्ष्य मे रखकर ही गृहस्थ श्रावक के लिए कहा गया कि वह किसी भी जाति मे रहकर स्थूलहिंसा का दो करण तीन योग से त्याग कर सकता और श्रावकत्व निभा सकता है। इस प्रकार त्याग विधि मे उसके संसार व्यवहार मे कोई रुकावट नही आती।

कई लोग यह कहा करते है कि जैनधर्म के इन अणुव्रतो का पालन तो विरक्त गृहस्थ, साधकी लोकसेवक या विधवा भले ही कर ले, धनिक, सत्तार्ध या धनवान् भरे-पूरे परिवार वाले गृहस्थ इन व्रतो का पालन नही कर सकते। वे तो [illegible] के नियमो मे जकड जाने के कारण इन व्रतो को निभा नही सकते। पर [illegible] करने की कमी के कारण ही हिंसा कहा जाता है। जिस गृहस्थ को [illegible] का उपभोग करना है, देह और देह से सम्बन्धित पदार्थों पर से आसक्ति [illegible] मुख्य सम्बन्ध से त्याग करना है, उसे इस विधि से व्रत लेकर अभ्यास [illegible] करने मे कठिनाई नही है। जिसकी भावना भवभ्रमण से छूटने की एवं आत्मा [illegible] परमात्मा, परमात्मा की उपासना अपनी गार्हस्थ्य [illegible] के लिए इस विधि से व्रत ग्रहण करने पर उसके पालन मे कोई [illegible] कठिनाई नही आती। जो व्यक्ति पापजनक धंधो, दुर्व्यसनो, अनावश्यक आरम्भ [illegible] मे [illegible] मौजशौकीनी आदि मे अनीतिपार्जन, अभक्ष्याचरण [illegible] का तो त्याग करना ही होगा। पर अपने [illegible] का त्याग करने मे कठिनाई नही लगेगी।

[illegible] करने से प्रारम्भ मे ही सभी बातें स्पष्ट कर दी [illegible] करने की भावना बनाएँ और अपनी आत्मा को [illegible] बनाएँ।

वर्तमान में कई श्रावक नामधारी अणुव्रतों को जानते ही नहीं, और न उ
का प्रयत्न ही करते हैं। कई जानबूझकर भी श्रावकधर्म के आचरण के प्रति उद
है। अगर अणुव्रती श्रावक विवेकी और समझदार हो तो महाव्रती श्रमण अपनी म
यथार्थ रूप में कर सकता है, अन्यथा महाव्रती साधु-साध्वियों को शुद्ध सात्त्विक आ
मिलने में बड़ी कठिनाई होती है। अणुव्रती श्रावक अविवेकी बनकर रजोगुणी और
तमोगुणी भोजन करने लगे तो महाव्रती साधुओं को सात्त्विक भोजन कहाँ से प्रा
होगा? इसलिए अणुव्रतरूप श्रावकधर्म और महाव्रतरूप साधुधर्म का घनिष्ठ सम्ब
है। अणुव्रती श्रावक में विवेक होगा तो साधुवर्ग भी अपने महाव्रतों का यथार्थ रूप
पालन कर सकेगा। 'श्रमणोपासक' पद भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। श्रमणोपा
को अपना जीवन खान-पान और रहन-सहन भी सात्त्विक बनाना पड़ता है। जो
श्रमण-श्रमणी वर्ग ऐसे सभी घरों में भी आहार ले सकते हैं, जो श्रमणोपासक न
हों। किन्तु श्रमणोपासक को पूर्ण विवेक और विचार खान-पान, रहन-सहन आदि
में करना चाहिए। कई श्रमणोपासक आजकल देखा-देखी या पाश्चात्य लोगों के सम्प
में आकर, अंडे आदि तामसिक वस्तुओं का सेवन करने लग गए हैं।
वैज्ञानिकों ने तो स्पष्ट कहा है कि अंडों में कोलेस्ट्रोल, मांस, हेमोग्लोबिन आदि अ
सात्त्विक पदार्थ नहीं होते। एक कवि ने ऐसे नामधारी श्रावकों की
खबर लेते हुए कहा है—

श्रावकों ने अपना सब गौरव गँवाया इन दिनों।
उनका नीचा सिर पामर बनाया इन दिनों॥
मद्य का मांसादि अब क्यों कर भला आए पसंद?
नीच भी करते में आकर पाया, इन दिनों॥
पी रहे हैं पानी, हत्यारों की है दया।
[illegible] के हाथ खंजर थमाया इन दिनों॥

[illegible] जो [illegible]
[illegible] [illegible]

[illegible] श्रमणोपासक [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

साधु कहलाने वालों की कमी नहीं है। प्राचीनकाल में भी भारतभूमि में [illegible] प्रकार के साधु थे, और आज भी हैं। अतएव किसी वेशधारी या क्रियाकाण्डी को [illegible] या श्रमण कह देने मात्र से किसी निश्चित अर्थ का बोध नहीं होता। इसी दृष्टि [illegible] जैनशास्त्रों में साधु या श्रमण की सम्यक् रूप से पहचान भी बतला दी गई है। सामान्यतया पंच महाव्रतों (हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इन का सर्वथा तीन करण तीन योग से त्याग करना) का पालन करने वाला ही श्रमण [illegible] कहलाता है। परन्तु इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर लेने मात्र से कोई व्यक्ति श्रमण या साधु नहीं कहलाता। और न ही पंच महाव्रतों के स्वीकार मात्र [illegible] ही या वेश एवं क्रियाकाण्ड से ही किसी व्यक्ति को साधु या श्रमण के रूप में [illegible] पहचाना जा सकता है। इसके लिए एक कसौटी बताई गई है—उत्तराध्ययन सूत्र [illegible] अध्ययन में—

> लाभालाभे सुहे-दुक्खे जीविए-मरणे तहा।
> समो निंदा पसंसासु तहा माणावमाणओ॥

[illegible]—भिक्षा आदि के लाभ में और अलाभ में, सुख-दुःख में, जीवन [illegible] मरण में तथा मान और अपमान में साधु समभावी होता है।

कैसी भी विषम परिस्थिति हो, कैसा भी विकट वातावरण हो श्रमण [illegible]। सुख में हो या दुःख में, जीवित रहे या मृत्यु [illegible] हो या अपमान, किसी भी हालत में श्रमण [illegible]।

[illegible] उत्थान या विकास के लिए दूसरों पर [illegible]। कोई भी दूसरा [illegible] अपने उत्थान-पतन [illegible]

[illegible]

[illegible]

यह सुनकर बादशाह हर्ष से उछल पडा और कहने लगा—"वाह रे गुलाब पुत्र ! तूने अपनी सुगन्ध उस मिट्टी मे डाल दी ।"

जिस प्रकार गुलाब की सेवा से मिट्टी मे सुगन्ध आ गई, उसी प्रकार [illegible] की सेवा से, उनके सान्निध्य मे श्रमणोपासक मे समभाव, प्रशमभाव, आत्मसन्तोष स्वाभाविक रूप से आ जाता है ।

सांसारिक पदार्थों के उपासक श्रमणोपासक नहीं

आप मे से कई लोग शायद यह सवाल उठाएँ कि "महाराज ! हम तो गृह[illegible] है, हम मे कहाँ समभाव आ गया है या हम कहाँ ऐसा समभाव चाहते है कि [illegible] और पत्थर को एक समान समझे । ऐसा समभाव तो श्रमणों मे ही आ सकता है, वे इस प्रकार के समभाव की साधना करना भी चाहते है । हम तो ऐसा समभाव [illegible] हम तो धन की चाह है, पुत्र की चाह है, सांसारिक सुखो की चाह है । [illegible] इनकी पूर्ति के लिए श्रमणों की उपासना क्यो करे ? ऐसी कल्पना मानव-जीवन [illegible] उद्देश्य न समझने वाले या गृहस्थ-जीवन के आदर्श को भूल जाने [illegible] । सच्चा श्रमणोपासक श्रमणों की उपासना धनादि की [illegible] अपितु जीवन के उच्च आदर्श व श्रमण के गुणों की प्राप्ति [illegible] करता है । सच्चे श्रमणोपासक के हृदय मे श्रमणोचित [illegible] करने की आकांक्षा रहती है । श्रमणोपासक (श्रावक) [illegible] के तीन मनोरथ इस प्रकार है—

[illegible] दिन होगा, जब मैं परिवार आदि छोड़कर [illegible]

[illegible] बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह [illegible]

[illegible] दिन मैं आरम्भ व सर्व का त्याग करूँगा ।

[illegible] उद्देश्य से, संलेखना [illegible]

[illegible] श्रमणों की उपासना [illegible]

स्कार करेगा। सच्चा श्रमणोपासक केवल वेष को सिर नही झुकाएगा, वह
ो देखेगा, तभी उनके सामने नतमस्तक होगा, उपासना करेगा।

आवश्यक निर्युक्ति मे कहा है—

किं पुच्छसि साहूण, तव च नियम च, बंभचेर च।

किसी साधु ने एक श्रमणोपासक से पूछा—"साधु के बारे मे तुम क्या
ह हो ? उसके तप को, नियम को और ब्रह्मचर्य को देखो। केवल वेष और
ाण्ड को मत देखो।" कहा भी है—

'भेष देख भूलो मती, ओलखजो आचार'

श्रमणोपासक ने कहा—जी हाँ, यही बात है। मैं केवल वेष ही नही, प
भी देखता हूँ। क्रियाकाण्ड और श्रमणों का व्यवहार भी देखता हूँ।

श्रमण वर्ग की उपासना के प्रकार

प्रश्न यह है कि श्रमणोपासक श्रमणवर्ग की उपासना कैसे करे
श्रमणोपासक उन्मार्गगामी मे हाथ-पैर दबा कर तो श्रमण की सेवा या उ
क्या वह सिर्फ कौन-सा उपाय है, जिसके जरिये श्रमणोपासक श्रम

ने आचार्यश्री ने कहा—"अगर तुम्हें धर्म और श्रमणों की सेवा करनी है अनार्यदेश में श्रमणों का विचरण सुलभ नहीं, जहाँ के लोग धर्म से विमुख उन्हें धर्म के प्रारम्भिक आचरण के सम्मुख करने के लिए तुम उन क्षेत्रों क्षेत्रों के निवासियों को धर्म और श्रमण का परिचय देकर सुलभ कर सको एक महान् सेवा होगी।"

"गुरुदेव! मुझे स्वीकार है। ऐसा ही करूँगा।" सम्प्रति ने कहा। पश्चात् आन्ध्र आदि अनार्यदेशों में, जहाँ के लोग धर्म से विमुख एवं साधु बिल्कुल अपरिचित थे, सम्राट् सम्प्रति ने अपने सुभटों को साधुवेष में भेजा और उन लोगों को उन साधुवेषी सुभटों ने श्रमणों के आचार-विचार से परिचित कर उन्हें साधुओं को शुद्ध आहार-पानी देने में अभ्यस्त कर दिया। इस प्रकार उन लोगों को सुलभ बनाकर वे सभी वापिस उज्जैन लौटे। उन्होंने सम्प्रति को आन्ध्रादि अनार्यदेशों के लोगों को सुलभ बनाने की कहानी अपने शब्दों में सुनाई। सम्राट् सम्प्रति ने आचार्यश्री से उन सुलभ क्षेत्रों में पधारने की प्रार्थना की। आचार्यश्री वहाँ पधारे और वहाँ के लोगों को धर्माचरण के मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया।

शान्तु मेहता ने अपनी नम्रता प्रगट करते हुए कहा—"महाराज श्रमणोपासक का कर्तव्य निभाया है, जो मुझे निभाना चाहिए था। इसमें व कुछ नहीं किया।"

मुनि ने कहा—"अगर आप उस दिन न सभालते तो मेरी दशा क्या होती। इसलिए आपने तो मुझे नया संयमी जीवन दिया है। आपका उ। जितना माना जाय, उतना ही कम है।"

यह है श्रमणोपासक द्वारा श्रमणोपासना का एक प्रकार।

वन्दना-नमस्कार किया और सविनय पूछा—"भगवन् ! आज मेरा अहोभाग्य है कि आपने यहाँ पधार कर मुझे दर्शन दिये । बड़ी कृपा की मुझ पर ! कहिये, मेरे लिए क्या आदेश है ?" गौतम स्वामी बोले—"महाशतक जी ! भगवान महावीर ने मुझे एक सन्देश देकर आपको सावधान करने के लिए भेजा है ।"

महाशतक ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—"भगवन् ! क्या सन्देश है, प्रभु महावीर का ?"

गौतमस्वामी ने कहा—"आपने अपने सलेखनाव्रत में दोष लगाया है । वह यह है कि एक तो आप प्रतिमाधारी श्रावक बने है, फिर आपने सलेखनाव्रत ग्रहण किया है । इस व्रत में किसी के हृदय को आघातजनक बात कहना मर्यादाविरुद्ध है । आपने अपनी पत्नी को नरकगमन का भय दिखाकर आघात पहुँचाया है । अतः इस दोष की आलोचना एवं आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) करके आत्मशुद्धि कर लो ।"

गौतमस्वामी के द्वारा भगवान महावीर का अमृततुल्य सन्देश सुनकर महा[illegible] ने आलोचना आदि करके आत्मशुद्धि की ।

तात्पर्य यह है कि [illegible] में अनेक विकट प्रसंगों में जहाँ श्रमणोपासक को कुछ [illegible] कोई मार्ग नहीं सूझता, आँखों के आगे अँधेरा आ जाता है, [illegible] पर चल पड़ता है, वहाँ प्रकाशस्तम्भ की तरह श्रमण का [illegible] सन्देश उसको सन्मार्ग पर लाने में अत्यन्त सहायक हो [illegible]

की कोई गलती पकड़ूँ और उन्हे हैरान करूँ, ताकि वे मुझे कुछ भी कह न सकें मेरे दोषों के विषय मे वे (श्रमण) जरा भी बोल न सकें।

ये हैं—चार प्रकार के श्रावकों के रूप ! इनमे अद्धागसमाणा सबसे ठीक है पडागसमाणा बाकी के तीनो मे बेहतर है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि श्रावक ऐसा श्रोता न हो, जो उस कान से सु और उस कान से निकाल दे, अथवा वक्ता की गलतियाँ ही पकडने मे रत रहे वह जिस का पल्ला भारी हो, उधर ही झुक जाय, अपनी विवेकबुद्धि से कोई नि निश्चित न कर सके। वास्तव मे ऐसा श्रोता होना चाहिए, जो श्रद्धापूर्वक जिन वचन सुने, उसमे से विवेकपूर्वक अपने लिए ग्रहण करे, जहाँ जो बात समझ मे न आए वहाँ जिज्ञासबुद्धि से तर्क करके समझने का प्रयत्न करे। श्रावक किस प्रकार का होना चाहिए, उस सम्बन्ध मे एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए—

लौटे और अन्य कार्यों को छोड़कर सीधे धर्मस्थान में पहुँचे। प्रवचन का समय हो रहा था। वहां विराजित सन्त उन्हें भली-भाँति पहचानते थे। उन्होंने पूछा—"श्रावकजी! आज इतना विलम्ब कैसे हो गया?"

श्रावक बोले—"महाराज! आज एक मेहमान को विदा देने गया था, इस कारण इतनी देर हो गई।" किसी ने सन्त से जब कहा कि आज इनका इकलौता पुत्र गुजर गया है। तब सन्त ने पूछा—"श्रावकजी! वह मेहमान क्या आपका सगा था? अगर ऐसा था तो आपको घर पर ही रुकना था।"

श्रावक ने सधी हुई वाणी में कहा—"मैंने उसके प्रति अपना कर्तव्य पूरा किया। वह जब वापिस लौटकर आने में रहा। फिर उसके पीछे व्यर्थ ही रोने से क्या होता? इसलिए मैं सरघट से सीधा ही धर्मस्थान में आ रहा हूँ। अब मैं आपकी सुनूंगा तो मेरे कान पवित्र होंगे, मेरा समय सुंदर एवं धर्मध्यान में कटेगा।

यह है एक श्रावक का ज्वलन्त जीवन, जिसमें श्रवण के साथ मनन भी होता है।

अमरचन्दजी के अहिंसाव्रत की विजय हुई। चुगलखोर लोगों के मुंह बन्द हो गये राजा भी दीवान अमरचन्दजी के द्वारा अहिंसाव्रत-पालन को देखकर प्रसन्न हो गये।

इसी प्रकार व्रती श्रावक पापकार्य से अपने को बचा लेता है। जब भी पाप कार्य का अवसर आता है तो वह उससे नहीं चूकता। साथ ही श्रावक अपने व्रत पालनों को दृढ़ने के लिए ज्ञान, शील, तप और भाव का आचरण करता रहता है। वह अपने जीवन में हर बात पर संयम रखता है। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदि का उपयोग करने में कम से कम आवश्यकताओं में वह अपना काम चला लेता है। संकट या कष्ट पड़ने पर वह भूखा-प्यासा रहकर उपवास करके अपना जीवन बिता देता है। मोटे और जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों में गुजारा कर लेता है। परन्तु अन्याय, अधर्म और पाप के पथ पर कदम नहीं रखता।

श्रावक गृहस्थ (सागार) को कहते हैं। गृहस्थ व्रती अपने व्रतों में दृढ़ [illegible] है इसलिए उसे अगारी भी कहते हैं। परिवार, कुटुम्ब-कबीले आदि [illegible] रहते जीवन को व्रतों से सुसज्जित करता है, इसलिए व्रती श्रावक [illegible] कहते हैं। उपासक नाम भी 'उपासकदशांग सूत्र', 'उपासकाध्ययन' [illegible]

एयं खु नाणिणो सार, ज न हिसइ किचण।
अहिसा समय चेव, एतावत्त वियाणिया॥

—सूत्रकृताग १।१।४।१०

सच्च जसस्स मूल, सच्च विस्सासकारण परम।
सच्च सग्गद्दार, सच्च सिद्धीइ सोपाण॥

—धर्मसग्रह अधिकार ३, श्लोक ३

गुणा गौणत्वमायाति याति विद्या विडम्बनाम्।
नोर्गेणाकीर्तय पुसा शिरस्यादधते पदम्॥

—ज्ञानार्णव १२

देव-दाणव-गधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बभयारि नमसति, दुक्कर जे करेति त॥

—उत्तराध्ययन १६।१६

[illegible] परिग्गो पामो पलिनन्तो अति,
[illegible] ग [illegible]।

प्रश्न १।५

आवश्यक-दर्शन

शिकारी अपने शिकार का पीछा करता आ रहा हो, इस प्रकार की स्थिति में यदि शिकारी उस सत्य-पालक गृहस्थ से पूछता है—"क्या तुमने किसी पशु को इस ओर जाते देखा है ?" उसी प्रकार कोई गुण्डा किसी सती-साध्वी का पीछा कर रहा है अथवा कुछ लुटेरे निरपराध यात्रियों को लूटने की फिराक में हैं और सत्यपालक से पूछते हैं—"क्या इधर किसी महिला को जाते हुए देखा है ? अथवा यात्रियों के दल को देखा है ?" ऐसी स्थिति में अगर सत्यपालक शिकारी, गुण्डे या लुटेरों को सत्य-सत्य बता देता है, तो उन पशु, सतीसाध्वी या यात्री दल पर घोर संकट आ सकता है, उनका जीवन घोर संकट में पड़ सकता है। अतः अहिंसा की जहाँ रक्षा न हो, वहाँ सत्य सत्य वास्तव में सत्य नहीं कहलाता। शास्त्रकार कहते हैं—या तो मौन रहे, या उपेक्षा भाव से उत्तर दे। किसी का दिल दुखाने वाला सत्य भी अहिंसा से अनुप्राणित न होने के कारण असत्य की कोटि में है।

तीसरे अचौर्य के सम्बन्ध में है—एक हत्यारा या डाकू अचौर्यव्रती से [illegible] या अन्य कोई वस्तु माँगता है, अगर वह उसे [illegible] तो उसका अचौर्य व्रत [illegible]

आकांक्षा और मृत्यु के प्रति अनिच्छा की अनुभूति अपने अन्दर जगेगी। फिर व
भगवान महावीर की इस अनुभवपूर्ण प्रेरणा को वह आत्मसात् कर लेगा—

'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउ न मरिज्जिउ'[1]

"सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला, अप्पियवहापियजीविणो
जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं।"[2]

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सभी को अपनी
जिन्दगी के प्रति प्यार, आदर व आकांक्षा है। सभी अपनी सुख-सुविधा के लिए
प्रयत्नशील हैं, अपने अस्तित्व के लिए सभी संघर्ष कर रहे हैं। जैसा तू है, वैसे
सब प्राणी हैं।

अहिंसा की शक्ति का कितना सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। जीवन के हर मोड़ पर अहिंसा की आवश्यकता को समझकर व्यक्ति अपनाए तो उसके सभी काम सुख-शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो सकते हैं।

आत्मौपम्य की प्रेरणा अहिंसा की पृष्ठभूमि

मैं पहले बता चुका हूँ कि आत्मौपम्य दृष्टि ही अहिंसा की जननी है। जब मनुष्य आत्मौपम्य की दृष्टि रखकर सभी प्राणियों के साथ व्यवहार करेगा तो उसके साथ ही उसके अन्तश्चक्षु में दूसरे प्राणियों की परिस्थितियाँ भी सामने आ[illegible] कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

आत्मवत् सर्वभूतेषु सुख-दुःखे प्रियाप्रिये।

लूटना और मारकाट करके कुछ जमीन अपने कब्जे में कर लेता था। वही उसका राज्य हो जाता और वह खुद बन जाता राजा। इस प्रकार वह राजा नामक व्यक्ति अपनी फौजों को बढ़ाकर संगठित करता और मौका देखकर किसी दूसरे देश पर अचानक चढ़ाई कर देता और इस प्रकार वह नया राज्य भी हथिया लेता। इस राजकीय प्रक्रिया में निर्दोष सैनिक मारे जाते, हजारों के जान-माल की हानि होती, परस्पर वैर बढ़ जाते और पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह वैर परम्परा चालू रहती। इसीलिए 'राजेश्वरी सो नरकेश्वरी' यह कहावत प्रचलित हो गई। जो राजा बनता था वह इसी प्रकार हिंसाचार करके अपना स्वार्थ सिद्ध करता। परन्तु ऐसे हिंसात्मक कार्य करने में जो अपार धन हाथ आता, वह सुरा, सुन्दरी, व्यसन और शिकार में खत्म होता, यानी चिरागिता में उस धन को स्वाहा कर देता। न तो राजा को कोई लाभ, न राजा को कोई मानसिक शान्ति।

गया है कि विनाश के कगार पर खड़ी मानवता को बचाना है तो अहिंसा का सहारा लेना होगा। सर्वोदयी संत विनोबाजी ने अपने एक प्रवचन में कहा था—

"यदि अहिंसा के साथ विज्ञान की शक्ति जुड़ जायगी तो दुनिया में स्वर्ग की जो बात ईसामसीह ने कही है, उस स्वर्ग को हम साकार कर सकेंगे। अ शक्ति कि[illegible] के हाथ में रही तो, भले ही उसका वही जन्म हुआ हो [illegible] दुनिया को खत्म कर देगी।"

अब विज्ञान के विनाशकारी तत्त्व को नियन्त्रित करने के लिए अहिंसा की उतनी ही तेज करनी होगी। अन्यथा, विज्ञान अपनी दौड़ में [illegible] और अहिंसा बहुत पीछे रह जायगी। अहिंसा को विज्ञान की सहायता [illegible] वह विज्ञान को नियन्त्रण में रखकर उसे मानवजाति [illegible] ।

तीन करण तीन योग से पालन करना विहित है। अर्थात् मन, वचन, काया से कृत कारित और अनुमोदित तीनो प्रकार से हिंसा का सर्वथा त्याग और अहिंसा का सर्वथा पालन साधुवर्ग के लिए अभीष्ट है। परन्तु संसार में सभी तो उतनी उच्च कोटि के साधक नहीं बन सकते, जो गृहस्थाश्रम में है जिन पर परिवार, कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र की जिम्मेदारियाँ है, जिन्हे निभाने के लिए उन्हे गृहस्थिन, दुकान-व्यापार एवं साधन-सामग्री जुटानी पड़ती है। आजीविका के लिए न कोई व्यवसाय तो करना पड़ता है, अपने व अपने परिवार की जीवन यात्रा के लिए धनार्जन करना पड़ता है, तथा अपने तथा परिवार के भोजन-वस्त्रादि के लिए भोजन मकान आदि बनाने में आरम्भ-समारम्भ करना पड़ता है। ऐसी दशा में वह गृहस्थ पूर्णरूप से अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। इसलिए वह जीवन को ठीक ढंग से बिताने के लिए कुछ मर्यादाएँ स्वीकार करके चलता है। वे मर्यादाएँ कौन-सी हैं, उनका स्पष्टीकरण आगे के समय [illegible]

जब तक वह सामारिक गार्हस्थ्यजीवन के कार्यों से निवृत्त नहीं हुआ है, जब त
उस पर सामाजिक, राष्ट्रीय आदि कर्तव्यों की जिम्मेदारी है, तब तक वह अपने
सूक्ष्म हिंसा से सर्वथा निवृत्त होने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है। सम्पूर्ण
से जीवहिंसा त्याग, या अहिंसा का पालन तो महाव्रती साधु-साध्वी ही कर
है। श्रावक में अभी उतनी शक्ति नहीं है और न ही साधु बनने की अभी तैयारी
किसी दशा में वह अहिंसा की ओर जितना बढ़ सकता है, उतना ही बढ़ता है। अ
रुचि और शक्ति, परिस्थिति और आरोग्य आदि को देखकर ही व्यक्ति महाव्र
अणुव्रत का पालन कर सकता है।

मिलता है, अगर वह कहता है कि मारने का मेरा कोई इरादा नहीं था, अथवा मुझे मारने की नीयत से आ रहा था, इसलिए मैंने इसे मारा था, तब तो स्पष्ट होने हुए भी उसे उतना दण्ड नहीं दिया जाता।

प्रश्न किया जा सकता है कि एक व्यक्ति श्रावक के जानमाल पर या [illegible] पर शस्त्रास्त्र लेकर आक्रमण करने आता है, उस समय उसका सामना करने के लिए उसे शस्त्रास्त्र से प्रहार भी करना पड़ता है, उस प्रहार से आक्रमणकारी मर भी जाता है, यह सकल्पजा हिंसा है या आरम्भजा ? सकल्पजा में तो उसे गिना ही नहीं जाता, अतएव सकल्पजा हिंसा के साथ दो परिष्कार और किये गये—निरपराध (निष्प्रयोजन) हिंसा करना सकल्पजा है। इसके सिवाय किसी भी [illegible] को मारने की नीयत न रखते हुए भी, कार्य करते समय प्राणियों का [illegible]

निर्दयता का व्यवहार करने के दोषी है। बेचारे हिरण, खरगोश, लोमड़ी व
स्वच्छन्द विचरण करने वाले सुन्दर पशुओं और निर्दोष पक्षियों को मारने का
मना के सिवाय कोई कारण नहीं हो सकता। भगवान महावीर और जैनधर्म
उसे सात कुव्यसनों में से एक कुव्यसन माना है। इसे तो सम्यक्त्वी श्रावक
पहले ही छोड़ना आवश्यक है। तथागत बुद्ध ने अपने बचपन में ही देवदत्त के
से सारस हंस की रक्षा करके शिकार का विरोध किया था। परन्तु वर्तमान म
लोग, खासकर, क्षत्रिय या पश्चिम के रंग में रंगे हुए लोग शिकार को साहसपू
लिए आवश्यक मानते हैं। मगर यह निश्चित है कि निर्दोष प्राणियों के
कोई साहस नहीं बढ़ता। उल्टे, शिकार से मनुष्य की कोमल वृत्तियाँ कुंठि
जाती हैं, दयानुकम्पा और सहयोग के गुणों का ह्रास होता है। इस सम्बन्ध में
दीन नामक अमेरिकी लेखक ने अपना अनुभव लिखते हुए बताया—

जिन्दा रहेगा तो मारेगा ही। मान लो, उन जीवो का आयुष्य बलवान हुआ
हिंस्र जीव लाख प्रयत्न करले, उन्हे नही मार सकेगा। तथा उसको मार देने पर
अगर उन जीवो का आयुष्य प्रबल न हुआ तो दूसरा कोई भी हिंस्र जीव उन्हे मार
डालेगा, या वे किसी भी निमित्त से मारे जाएँगे। उसी प्रकार मरकर भी वह पुन
उसी योनि मे जन्मा तो फिर हिंसा करेगा। इसलिए यह भावना ही अच्छी नहीं
कि एक हिंस्र जीव को मारने से अनेक जीवो की रक्षा हो जाएगी।

कई लोग साँप या बिच्छू को देखते ही उन्हे अपने जन्मजात वैरी मानकर
प्रतिशोध के संस्कारवश झट से उन्हे मार डालते है। यह तो सरासर सकल्पी हिंसा
जो श्रावक के लिए कथमपि ग्राह्य नही है। ये साँप, बिच्छू, ततैये आदि जीव तो प्राय
तभी काटते है, जब उन्हे छेडा जाता है, या उन पर पैर पड जाता है। यदि मनुष्य
इन जीवो का यह बहाना बनाकर मारने लगे कि वे हिंसक है तो मनुष्य उनसे
ये जीव तो ऐसा

साधन सम्पन्न है, वही जी सकता है, वही रह सकता है, अगर पश्चिम के इस Survival of the fittest के सिद्धान्त को माना जाएगा तो दुनिया में फिर निर्बल जीना ही मुश्किल हो जाएगा। जो अपने को आज सबल मानता है, कल को उससे सबल आकर उसे मार गिराएगा। फिर उससे भी कोई सबल हुआ तो वह उसे गिराएगा, इस प्रकार 'मत्स्यगलागल' न्याय से दुनिया में कभी शान्ति स्थापित हो सकेगी।

इसलिए हिंस्रप्राणियों को मारने की अपेक्षा उनकी हिंसावृत्ति मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे गाय, कुत्ता, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि पहले जंगली खूंखार जानवर थे, किन्तु मनुष्य ने प्रेम से ही इन्हें अपनाया, और धीरे-धीरे अपने साथी और सहायक पालतू जानवर बना लिया, वैसे ही आज अगर मनुष्य कोशिश करे तो सिंह आदि क्रूर जानवरों को भी पालतू और अहिंसक बना सकता है, इसमें सन्देह नहीं।

अपने प्राइवेट कसाईखाने चलाते हैं, कई सरकार चलाती है। श्रावक न तो कसा
खाना स्वयं चलाता है, न चर्मालय ही, और न ही कसाईखाने या चर्मालय
वह हिस्सेदार (Partner) या शेयरहोल्डर बन सकता है। कई लोग कहा करते
कि हम मांस या टीन में बंद मांस बेचें तो क्या हर्ज है ? क्योंकि उस मांस में
जीव तो होता नहीं, या अंडे बेचें तो क्या हर्ज है ? आजकल के अंडे निर्जीव होते
अथवा हम चमड़ा बेचें तो कौन-सा पाप है ?

यह समझना नितान्त भूल है कि कसाईखाने में मांस या चमड़े के लिए
जाने वाले पशुओं की हत्या का पाप कसाई को लगेगा, हम तो केवल बेचते हैं। मगर
उन पशुओं का चमड़ा और मांस बेचने वाले, खरीदने वाले, भी इस हिंसा में
हिस्सेदार हैं। पाप के मुख्य भागीदार तो वे व्यक्ति हैं, जो प्रेरणा या लालच
चमड़े या मांस का उत्पादन कराते हैं। आजकल फैशन की दृष्टि से लोग बहुत
से मारे जाने वाले पशुओं के चमड़े[1] (कूम लेदर व काफ लेदर) से बने बूट
या बैग, बटुआ, सूटकेस, पर्स, बाम, कमर का पट्टा आदि खरीदते हैं। ये
समझते कि चमड़े इन सुन्दर शौक के लिए कितने निरीह प्राणी क्रूरतापूर्वक मा
। केवल कानून पास में बनी बनाई चीज को ही न देखें, किन्तु उस चीज को
किस प्रकार किस प्रकार से हुई है, उसे भी सोचें। मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा

मनोभावनाओ का नाश हो जाता है, वे अपने भावी जीवन मे विशेष स्वार्थी बन जाते हैं। लोगो के सुख-दुःख के प्रति उपेक्षाभाव रखने वाले बन जाते हैं।

औषधियो के लिए जीवो की हिंसा

औषधियो के लिए जीव-जन्तुओ का वध करना भी सकल्पी हिंसा है। [illegible] के लिए 'कॉड लिवर आइल' बनाने के लिए लाखो मछलियो को नष्ट किया [illegible] और भी बहुत-सी दवाइयाँ पशु-पक्षियो को मार कर बनाई जाती हैं। बिच्छू [illegible] जहर प्राप्त करने के लिए अनेक बिच्छुओ को शीशियो मे बंद करके उनके मर [illegible] विष निकाला जाता है। कई पशुओ का रक्त, हड्डियाँ, चर्बी, अग आदि दवाओं [illegible] पड़ते हैं। कुछ वर्षों पहले एक पत्रिका मे पढा था कि पिछले पाँच वर्षों म [illegible] दो करोड साप विदेशो मे निर्यात किये गए हैं। वहाँ वे साप को छेडकर उनके [illegible] पर बेतार्मी बैंगी बाँध देते हैं। और उसके द्वारा उस सर्प का जहर निकाल लिया [illegible] है। यह विष अनेक दवाइयो मे डाला जाता है। फिर उन निर्विष साँपो को [illegible] उनकी कोमल चमडी से कमर के पट्टे तथा ऐसी कोमल वस्तुएँ बनाई जाती हैं।

[illegible] प्रकार की हिंसा सकल्पी है, जो किसी भी अहिंसाप्रेमी श्रावक के लि[illegible] चित है, और न ऐसी [illegible]

और गीता का सर्वोच्च तत्त्वज्ञान पाया जाता है, जिनमें आत्म-कल्याण के लिए 'सर्व सर्वत्यागु' के स्वर गूंज रहे हैं, दूसरी ओर अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए बेजुबान प्राणियों का सरेआम वध किया जाता है और वह इहलौकिक या पारलौकिक स्वार्थ का स्वार्थ भी कभी पूर्ण होता नहीं, केवल पंडे-पुजारियों या धर्मगुरुओं की क्षणिक विक्षातृप्ति हो जाती है। सचमुच निरपराध पशुओं के गर्दन पर छुरी चलाना या बकरे आदि भेंट चढ़ाकर देवी पूजजों से कटवाना स्पष्ट हिंसा है, यदि एक ही पूर्णिमा रात्रि में पुण्य मिलता और स्वर्ग हो जाता तो हिंसा का स्थान, दयापूजक कर्मों के स्वर्ग पहुंच जाते। जानबूझकर किसी जीव को मारना-सताना ही कष्ट पहुंचाना, हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती। सभी धर्मों ने इसे हिंसा माना है। जो देवी, जगदम्बा—जगत् की माता कहलाती है, वह भला अपने सन्तान पशु-पक्षी रूपी का भक्षण कैसे करेगी? जिन देवों को परमात्मा का अंश मानकर [illegible] स्वीकार करते हैं, क्या वे उन निर्दोष पशु-पक्षियों के [illegible] से प्रसन्न हो सकते हैं? ऐसे घृणित कृत्य करने वालों को धन, संतान, सुख, [illegible] किस न्याय से किस नाते किसको मिलेगा? जिस अन्नदाता को [illegible] करते हैं, क्या वह बकरों की कुरबानी (बलि) देने से कभी [illegible] स्वार्थान्धलोगों की करतूतें हैं। धर्म-ग्रन्थों में पशुओं [illegible] हैं, आज भी कई मूढ़ लोग अपनी मनौती [illegible]

पति गया हो। अत उस घोर हिंसा को राजा राममोहनराय ने बन्द कराया। ऐसे के लिए ऐसी सकल्पी हिंसा सर्वथा त्याज्य है।

इसी प्रकार की एक कुप्रथा थी, गर्भवती सुन्दरियो की कालीदेवी के आगे बलि देने की। कितनी घोर यातना होती थी, उस कुप्रथा के पालन मे ? उस समय के राजा रामरराय ने रामनगर मे क्रूर काली मन्दिर को नष्ट करवा दिया और सदा के लिए उस कुप्रथा की इतिश्री करवा दी।

इसी प्रकार मारवाड एव गुजरात मे कई जगह मृतक के पीछे मरणिया रोने, छाती कूटने और छाती-माथा कूटने का भयकर रिवाज है।

आज उस शारीरिक और मानसिक हिंसाजनक कुप्रथा का समर्थन कौन करता है ? रोने-पीटने और छाती-माथा कूटने से बहनो के शरीर एव मन पर कितनी क्रूरता होती है, यह सब जानते है। आर्तध्यान करने से मानसिक हिंसा

करके या कराकर भयंकर सकल्पी हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं, भड़काते हैं। राष्ट्रीय सम्पत्ति का नाश करते हैं, राष्ट्र का उत्पादन ठप्प करते हैं, जनता में हिंसा की भावनाओं को उभारते हैं। इससे वे जनता में द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, क्लेश, आतंक तथा क्षुद्रस्वार्थ का वातावरण फैलाते हैं। इसलिए ये सब बातें सकल्पी हिंसा में ही गिनी जाएँगी, जिसका श्रावक को त्याग करना लाजिमी है।

दया के लिए हिंसा भी घोर अनर्थकारिणी

कोई यह शका कर सकता है कि जो प्राणी बहुत कष्ट में है, जिसकी पीड़ा देखा नहीं जाती है वह अपने कष्ट से शीघ्र छुटकारा पा ले तो उसके लिए की हिंसा या अपना दूसरे कष्टपीड़ित प्राणी को कष्ट और पीड़ा से मुक्त करने के लिए स्वय, विष या इंजेक्शन के द्वारा मार दिया जाए तो [illegible]

खण्डन किया था। एक मत और था उस युग मे, जिसका मन्तव्य यह था कि [illegible] की प्राप्ति बडी मुश्किल से होती है, इसलिए सुखी लोगो को सुखी अवस्था मे [illegible] दिया जाय तो वे मरने के बाद भी सुखी ही होते है। यह मत भी मिथ्या है। [illegible] किसी व्यक्ति को सुखी हालत मे मारने से उसे मरने की हालत मे सुख होगा [illegible] मरने वाले को कभी सुख नही होता, यह बात निश्चित है। और मरते समय [illegible] आर्तध्यान होगा, दुख और पीडा से प्राण निकलेंगे, तब मरने के बाद सुख कैसे मिल सकेगा ? क्योकि मरते समय जिसकी जो लेश्या या भावना होती है, उसी के अनुसार ही उसकी गति होती है। इसलिए सुखी लोगो से धन ऐंठकर उनको मरने के बाद सुख का सब्जबाग दिखाना निरी वचना है, ठगी है।

इसी प्रकार की धर्म के नाम पर ठगी प्राचीन युग मे वाराणसी मे कुछ पण्डो द्वारा की जाती थी। धनाढ्य व्यक्तियो से काफी रुपये ऐंठकर उनको कहा करते थे कि हम तुम्हे काट कर गगाजी मे बहा देंगे, जिससे तुम सीधे स्वर्ग मे पहुँच जाओगे, जहाँ तुम्हे सब प्रकार के सुख मिलेंगे। बेचारे भोले-भाले अज्ञानवश उन पण्डो के चक्कर मे आ जाते थे। तत्पश्चात् पडे उन्हे गगाजी मे बहा देते थे। क्या स्वर्ग का मार्ग इतना आसान है ? तब तो वे स्वयं क्यो न गगाजी मे कूदकर मर जाते या अपने माता-पिता को काट कर गगा मे बहा देते, जिससे उन्हे शीघ्र स्वर्ग मिल जाए।

एक नगर ग्राम या मुहल्ले का दूसरे नगर ग्राम या मुहल्ले के साथ घृणा, द्वेष, वैर, स्वार्थ एवं अहंकार से ग्रस्त सम्बन्ध है तो वहाँ चाहे बाहर से आप कितनी ही अहिंसा का पालन कर लें, जीवदया का कार्य कर लें, अन्दर से आपके जीवन में वह अहिंसा की हरियाली नहीं आएगी।

कोई कह सकता है कि जब तक ये जातियाँ, वर्ण, वर्ग, प्रान्त, राष्ट्र एवं सम्प्रदाय अलग-अलग रहेंगे, तब तक मानव-मानव में भेद रहेगे और ये भेद मानव के अपने-अपने के भेद के साथ स्वत्वमोह, स्वार्थ और द्वेष-घृणा आदि को प्रश्रय देते रहेंगे। उन्हें कैसे हटाया जा सकता है? वास्तव में जैनधर्म ने अहिंसा एवं सहअस्तित्व (जीओ और जीने दो) के सिद्धान्त ही ऐसे दिये हैं, जिनसे इन सभी को एकान्त एक ही दृष्टि से न देखकर स्वत्वमोह को छोड़ कर सभी के साथ समभाव को अपनाना चाहिए। इन जातियों आदि को दूर करने की बात ही अलग है अपने विचार विवेक से घृणा, द्वेष, स्वार्थ आदि विकारों को

भगवान महावीर ने कठोर साधना की, उसके बाद जब परिवर्तन का समय आया, तब बड़े-बड़े दिग्गज पण्डितों ने अपने ब्राह्मणत्व की उच्चता का अभिमान छोड़ कर उनके चरणों में सारे भेदभाव भुला दिये। स्वयं भगवान की वाणी उत्तराध्ययन जैन शास्त्रों में गुम्फित है कि "हरिकेशबल चाण्डालकुल में उत्पन्न हुए हैं, उनकी जाति निंद्य नहीं थी दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। कर्म (धंधे से) से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य शूद्र माना जाता है, जन्म से नहीं।" खेद है, जैनों ने उस नारे को नहीं पहचाना और पहले के धर्म-सम्प्रदायों के प्रवाह में बहकर ऊँच-नीच एवं छुआछूत का [illegible] लगे, जिसका भगवान महावीर ने खण्डन किया था। जिसे [illegible] स्वीकार न करने का कहा था। अनेक मान्यताएँ वही थीं।

होता। रात्रि-भोजन करने वालों को कई बार भोजन में विषैले जीव के पड़ जाने से प्राणों से हाथ धोना पड़ा है। ऐसे कई प्रत्यक्ष उदाहरण मौजूद हैं, जिनमें रात्रि-भोजन में अविवेक के कारण कई मौतें हुई हैं।

आरम्भी हिंसा और अविवेक—

कई बहने गृहकार्य में होने वाली अनिवार्य हिंसा से बचने के लिए हिंसा के कार्य करती हैं, जिनमें विवेक नहीं होता। जो गृहकार्य में अहिंसा की मर्यादा से अनभिज्ञ है। इस प्रकार आलस्य और प्रमाद में पड़ने से आरम्भ-जन्य हिंसा से छुटकारा नहीं मिल सकता। जब तक कि खाना-पीना सर्वथा न छोड़ दे, या गृहस्थ की जिम्मेदारी से निवृत्त होकर साधु-जीवन स्वीकार न कर ले।

दूसरी बात यह है कि अपने जिम्मे का कार्य साम-वह या देवरानी-जिठानी पर डालना और स्वयं बहाना बना कर पेट जाना, मटरगश्ती करना, सैरसपाटे करना अविवेक है क्योंकि मर्यादा के विरुद्ध है, और इस कारण हिंसा है। इसी से घरों के कलह परिवारों में पारस्परिक संघर्ष होते हैं, और वे गृहकलह का रूप धारण कर लेते हैं। कलह वृद्धि ही भावहिंसा का मुख्य कारण है।

वेदना हुई। दुर्भाग्य से बच्चा गर्भ में है, वह विपाक्त हो गया है। ऐसे समय में व
क्या करे ? बच्चे को बचाए या बच्चे की माँ को या दोनों को मर जाने दे ?

इस समय बन्धन होकर विवेकी श्रावक को बच्चे की माँ को बचाने के लि
सहमत होना होगा। बच्चा चूंकि मृतप्राय है, वह बचाया नहीं जा सक
सकेगा है।

इसी प्रकार मान लीजिए, एक श्रावक की भैंस के शरीर पर फोड़ा हो गय
उसमें इन्फेक्शन पड़ गया। कीड़े कुलबुलाने लगे। अब वह भैंस को बचाए या मार
दिया करे ? इस समय में वह बचाना तो दोनों को ही चाहेगा, तेजी औषधि दे
कर कीड़े नष्ट हो जाएँ, घाव भर जाय, और भैंस स्वस्थ हो जाए। पर
स्वस्थ के लिये, उसे चाहे पर अधिक समय तक जीवित नहीं रख पाये, पर कोई
ही [illegible] के पास उसे बचाने का।

इसी प्रकार जैनाचार्य ने श्रावक को भविष्य में होने वाली आरम्भी हिं
[illegible] निवृत्ति की [illegible], वह उन पर नहीं तो श्रावक जीवन में भी अ
[illegible]। जैसे खेत में जू-लीख आदि पड़े, घर में जीव ज
[illegible] उसने पहले ही श्रावक को विवेकपूर्वक [illegible]
[illegible] (सावधानी) का ध्यान रखना चाहिए। यदि
[illegible] में पैदा हो।

प्राणियों के खून से निष्पन्न मोतियों की माला पहन कर यदि धर्मस्थान में [illegible] प्रवेश करे तो क्या आपको आश्चर्य नहीं होगा ?

बन्धुओ ! मोती कैसे प्राप्त होते हैं ? उसकी करुण कहानी सुनकर [illegible] रोंगटे खड़े हो जाएँगे । बेचारे गोताखोर लोग मरजीवा बनकर समुद्र की [illegible] खोल पानी में जाते हैं । वहाँ चक्कर काटती हुई निर्दोष मछलियों को पकड़कर टोकरों में [illegible] और मुट्ठियों में मगरमच्छ आदि हिंस्र जल-जन्तुओं से अपनी जान बचाकर [illegible] बाहर आते हैं । टोकरों में भरी हुई लाखों मछलियों का ढेर कर देते हैं, वे मछलियाँ [illegible] के लिए तड़प-तड़पकर मर जाती हैं, फिर उन्हें बादाम की तरह फोड़ा [illegible] है । उनमें से किसी-किसी मछली में से मोती निकलता है । इसीलिए तो मोती [illegible] । आप जानते ही होंगे, कि असंख्यात मछलियों की हत्या होती है तब [illegible] होती है । मोती के निमित्त होने वाली मत्स्य-हिंसा से [illegible] बेचने वाला, खरीदने वाला, पहनने वाला और देखने वाले [illegible] सम्बन्धी लगते हैं सब उससे सम्बन्ध हैं, इसलिए न्यूनाधिक रूप में [illegible] होते ही हैं । क्या एक विवेकी अपारम्भी श्रावक [illegible]

आज के ब्राह्मण वर्ग की तरह प्राचीन ब्राह्मण वर्ण प्राय नही था—यह व
वर्ग भोली जनता को पूजा-पाठ, अनुष्ठान, जप, हवन आदि के नाम पर ठग
इष्टसिद्धि विधान करने अपना उल्लू सीधा नही करता था। ब्राह्मण वर्ण का निर्म
नि स्पृह, समाज का निष्पक्ष उपदेशक होना अनिवार्य है। अन्यथा, लोक-कल्या
नाम पर अपनी स्वार्थसिद्धि, एव प्रचुर धनसग्रह के लिए जप, हवन, पूजापाठ
अनुष्ठानो म होने वाली हिंसा उद्योगी न रहकर सकल्पी बन जाएगी।

क्षत्रियवर्ग का श्रावक भी जनता को न्याय और सुरक्षा दिलाने, नीति
एव धर्म का जनता म प्रचलित करने के लिए समाज मे सघर्ष करता, दण्डदेर लि
होकर युद्ध भी करता, वे सब उद्योगी हिंसा के अन्तर्गत था, किन्तु जो मे अधिक
स्वार्थ के नाम पर जनता का शोषण और लूटपाट करने लगा, निर्बल की म
रक्षा का कर्तव्य अथवा कर्तव्य म पश्चात्पद करके, सुरा और सुन्दरी के लाभ
के लिए निर्दोष प्राणियो का शिकार करने और मासाहार करने मे प्रवृत्त हो
— क्षत्रिय के स्वभाव मे अनुप्रवेश हो गया, तब मे वह जो भी प्रवृत्ति क
करता, उसमे हिंसा के प्रकार सकल्पी हिंसा का रूप ले लिया। राजा लोग
युद्ध के लिए दूसरे राज्यो पर चढ़ाई करना कैसे उद्योगी हिंसा म गिना जा

और तब वह तथाकथित उच्चाभिमानियों के समकक्ष न सिद्ध होता। उसे अवसर दिया ही नहीं गया। भगवान महावीर और तथागत बुद्ध का ध्यान इस ओर गया। उन्होंने अपने संघों में उपासक और साधु दोनों श्रेणियों में शूद्रों को समान स्थान दिया, सबको साधना करने का समान अवसर दिया विकास के लिए सबके लिए समान रूप से प्रोत्साहन, प्रशिक्षण और समर्थन दिया। यही कारण है कि भगवान महावीर के संघ में अर्जुनमाली, सद्दालपुत्त कुम्भकार, हरिकेशीबल, मेतार्य मेहतर आदि अनेक लोगों ने गृहस्थाश्रम एवं साधु-जीवन की साधना करके विकास किया और मोक्ष के अधिकारी बने।

आज कोई शूद्रवर्णीय व्यक्ति समाजसेवा की भावना से श्रावक पद पर रहते हुए निज स्वच्छन्द व्यवसाय को ईमानदारीपूर्वक करता है। शायद उसे धन कमाने की भी लेकिन उस सफाई को वह प्रभुभक्ति से भगवान नाम का कर्म कहता है। उसी प्रकार वर्तमान में विविध सेवाकार्य करने वाले अपने दुर्लभ मानव जीवन को सफल बनाने में समाज सेवा करने की भावना रखते हैं तो उन्हें अपने व्यवसाय का भी पालन होगा, जीवन में सुख-शान्ति भी मिलेगी, [illegible] कर सकेगा।

उमास्वाति के स्वोपज्ञभाष्य मे स्पष्ट बताया गया है कि 'यजन-याजन, अध्यन-अ
पन, कृषि, वाणिज्य आदि तमाम सात्त्विक आजीविका के कर्म करने वाले व्यक्ति आ
कहलाते है। आचार्य अकलक भट्ट ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे स्पष्ट बताया है
'अल्पसावद्यकर्मार्याश्च श्रावकाः' जब श्रावक इन्ही सब कर्मों (धन्धो) को करते
ये ही अल्पारम्भी-अल्पसावद्य आर्यकर्म हो जाते है।

तात्पर्य यह है कि चाहे सफाई का धन्धा हो, चाहे उपदेश देने का
वाणिज्य हो, कृषि हो, गो-पालन हो या और कोई धन्धा हो, नौकरी हो या
उपर्युक्त दृष्टि और विवेक है तो वह धन्धा अल्पसावद्य आर्यकर्म है, और
किन्तु एकान्तरूप से यह नही कहा जा सकता है कि अमुक धन्धा समाज मे
है, उसका चलाने वाला कोई बडा धनिक है, इसलिए वह धन्धा गर्हित है, या
सचालक कोई ब्राह्मण है, इसलिए आर्यकर्म है। कोई धनिक कसाईखाना
वेश्यालय चलाता है, और कभी-कभी समाज के गरीबो को कुछ मदद देता है
शाला खोल देता है, प्याऊ लगा देता है, तब समाज के लोगो की तर्जे बदल जा
जो लोग पहले उस धनिक को अनार्यकर्मी, अपवित्र धन्धे वाला कहते थे
गर्मिमा एव दानवीर आदि कहने लगते है। उसे सभा-सोसाइटियो मे ऊँचा
पद दे दिया जाता है। क्या पैसा हो जाने से ही व्यक्ति पवित्र हो गया

किसी भयंकर सकल्पी हिंसा को विरोधी हिंसा मानने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए।

सचार्थ में जो अपराधी है, उसे ही विरोधी समझना चाहिए और विरोधी का प्रतिकार श्रावक किस हद तक और किस क्रम से कर सकता है? यह सोचने की बात है। श्रावक के सामने आदर्श तो यह है कि किसी भी स्थूल (त्रस) जीव की हिंसा न की जाए। परन्तु आदर्श, आदर्श है, वह व्यवहार में कब, कैसे, कहाँ और किस प्रकार उतरता है, यह गम्भीरतया विचारणीय है। आदर्श को व्यवहार में उतारने के लिए यह भी विचार करना आवश्यक हो जाता है कि किस स्थिति का व्यक्ति उस आदर्श को जीवन में व्यक्तिगत रूप से कितना उतार सकता है, यह उसकी अपनी शक्ति की परिस्थिति, क्षमता, अन्तःस्फुरणा, नैतिक आत्मशक्ति आदि पर निर्भर है। इस दृष्टिकोण को लेकर ही सूत्रकार ने स्थूल मार्गदर्शन दिया है—

नन्नत्थ नाभोगेणं, सहसाकारेणमप्पणो।
सेसेसु खत्त न विगार, तसप्पाणं निउजए॥

कई लोग अहिंसा की शक्ति पर निष्ठा न रखने वालों के व्यवहारों को देखकर कह दिया करते हैं—अहिंसा कायरों का धर्म है। अहिंसा मनुष्य को बुजदिल कायर बनाती है। उसका सहारा लेकर मनुष्य अन्याय-अत्याचार का कोई प्रतिकार करने चुपचाप बैठ जाता है। परन्तु यह अहिंसा का स्वरूप न समझने और उसकी शक्ति प्रकट न होने के कारण अज्ञानजनित कथन है। अहिंसा कायर बनाती है, कायरों को ही, यह बात वे ही कहते हैं, जो अहिंसा के वास्तविक गुणों को नहीं जानते। वीरपुरुषोत्तम ही अहिंसा का धारण एवं पालन कर सकता है। कायर अहिंसा नहीं अपना सकते। अहिंसा और कायरता ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। अपनी या किसी दूसरी स्त्री का किसी अत्याचारी पुरुष द्वारा शीलहरण करते देखकर या अपने पर आक्रमण होने पर कोई व्यक्ति चुपचाप यह कहकर या सोचकर बैठ जाता है कि मैं तो अहिंसक हूँ, मुझे प्रतिकार कैसे कर सकता है, क्योंकि प्रतिकार करने में किसी न किसी के हिंसा होने की सम्भावना है, अहिंसा नहीं, कायरता है। यह विचार भी [illegible] मानसिक दौर्बल्य है। इस प्रकार की निर्बलता भी पाप है। [illegible] कि मैं तो किसी का सामना नहीं करता, क्योंकि मैं तो

शोषण और भय से मुक्ति। डरा हुआ मनुष्य कौन-सी धर्मसाधना कर सकता? डर की अहिंसा भी कोई अहिंसा है? निहत्थे लोगों ने सहज अपने अहिंसा के चमत्कार से साम्राज्य का झंडा झुकाया, उसकी तोपों के मुँह मोड़े। बहके हुए इन्सानों के बीच यह महात्मा अपना सीना ताने खड़ा रहा। लोगों के मन बदले। गांधीजी ने कहा मैं आपकी हिंसा का रास्ता रोकूँगा, आपको अहिंसा की ओर मोड़ूँगा। जरूरत हुई तो स्वयं मर-मिटकर। मेरी कष्ट-सहिष्णुता आपके दिल को पिघलाएगी, मेरा त्याग आपके हृदय को रोएगा। भगवान महावीर ने तप-त्याग सिखाया। आज के युग में गांधीजी ने सत्य सिखाया समाज को अहिंसक बनाया। दोनों ही महापुरुष थे।

का भी हित हो और समाज का भी भला हो, समाज मे भी सुख-शान्ति, सुव्यवस्था स्थापित हो, उस दण्ड मे भी श्रावक के जीवन मे अहिंसा की सुगन्ध रहती है।

दण्ड के समय भी अपराधी के साथ प्रेम और करुणा का दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। अपराधी को मानसिक रोगी समझकर उसका मानसिक उपचार होना चाहिए। अपराधी के मानस मे स्नेह, सद्भावना जगाकर मनोवैज्ञानिक ढंग से उसका सुधार होना चाहिए। अपराधी को सर्वथा मिटाने की अपेक्षा अपराध के संस्कार को मिटाने का प्रयत्न होना चाहिए, क्योंकि अपराध एक मानसिक रोग है, जिसका निवारण स्नेह, वात्सल्य एवं आत्मीयता से ही हो सकता है। यही अपराधी के सुधार का राजमार्ग है। अपराधी के अन्तर मे सुप्त उज्ज्वल चरित्र को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही निरोधी हिंसा का हार्द है।

*

गलती के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है तो गलती चाहे छोटी हो या बड़ी दोष या घाव चाहे गहरा हो या मामूली, वह मिटता नहीं है। वह दोष अन्दर ही अन्दर अधिकाधिक गहरा होता जाएगा, उस व्यक्ति का जीवन सड़ता जाएगा। इसलिए आध्यात्मिक साधना में शुद्धि के लिए सत्य अनिवार्य एवं प्राथमिक गुण माना गया है।

की सहायता की प्रेरणा करने वाला या उन्हें खींच लाने वाला कौन था ? सत्य ही तो था, धर्म ही तो था ! अगर सत्य की दैवी-शक्ति न होती तो देवता कैसे आ सकते ? धम्मचेतिय सूत्र में स्पष्ट कहा है—

"देवापि तं नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो।"

जिसका मन सदा, धर्म में लीन रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। उसके चरणों की धूल अपने सिर पर चढ़ाते हैं। यों ही बैठे-ठाले तीस देवताओं को बुलाना चाहें तो क्या वह आ जाएगा ? कदापि नहीं। देवता सत्य-शील के पास स्वयमेव खिंचे चले आते हैं। उनको बुलाने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

तथागत में रहता था—समाधि की जितनी भी शक्तियां हैं, वे अमुक [illegible] उनमें आगे वे भी जवाब दे देती हैं। समाधि [illegible] जब तक काम देता है, सहयोग देता है। समाधि की [illegible]—

में नीचे गिराया गया, अग्नि में जला डालने का प्रयत्न किया गया, इनने अत्याचार के बावजूद भी प्रह्लाद ने अपने पिता की अनुचित आज्ञा नहीं मानी, वह अपने [illegible] में स्थिर रूप पर अटल रहा। अन्त में प्रह्लाद के सत्यबल के सामने भौतिकबल के धनी हिरण्यकश्यपु को हार माननी पड़ी।

सत्य बल : सब बलों में बढ़कर

आवश्यकसूत्र एवं प्रश्नव्याकरणसूत्र में सत्य की शक्ति का विस्तृत वर्णन करते हुए बताया गया है कि "सत्यवादी मनुष्य के प्रभाव से समुद्र का जल भी [illegible] उसके लिए जल तैरने योग्य हो जाता है, दिशा भूल जाने पर उसे [illegible] स्थल बताने वाला सैन्य आदि सहायक मिल जाता है। अग्नि का प्रचण्ड [illegible] भी उसका कुछ नहीं कर सकता। गीलता हुआ तेल, खौलता [illegible] सत्यवादी मनुष्य के हाथ में लेने पर उसे जला नहीं सकते। सत्यवादी पर [illegible] भी कोई वार नहीं कर सकता। सत्यवादी शत्रुओं से चारों ओर से घिर जाने पर [illegible] सकुशल निकल आता है। घृणा, बदनामी, अभियोग, वैर आदि घोर [illegible] उसके पास नहीं आ पाते। सत्य के पालकों से [illegible] [illegible] के स्वयं वश में भी उनके समीप नहीं आते।"

प्राणों की बाजी लगा देना है ? उसे आप लोग धर्म-नाम से न पुकारना चाहें तो न न कोई नाम तो पहिचान के लिए देना ही पड़ेगा । पश्चिम के लोगों ने, सामान्य जीवन-कला प्रेमियों ने उसे 'सत्य' नाम दिया है ।

समाजभर की समस्याओं का हल, विवादों का निपटारा, झगड़ों का निर्णय कौन-व्यवहारों का निश्चय, प्रश्नों का समाधान किसके बल पर होता है ? सत्य बल पर ही । कौन-सी चीज है, जिसके लिए मनुष्य हँसते-हँसते मौत के मुँह में न जाता है ? किसकी प्रेरणा से मनुष्य अपने प्राणों को न्योछावर करने के लिए उ जाता है ? आत्म-बलिदान या प्राणोत्सर्ग की प्रेरणा का जनक कौन है ? कौन सा तत्त्व था, जिसकी प्रेरणा से गजसुकुमार मुनि ने निश्चल-भाव से अपने [illegible] का उत्सर्ग कर दिया ? कौन-सा ऐसा आकर्षण था, जिसने हरिश्चन्द्र [illegible] लाकर मंगी के घर बिकने के लिए प्रेरित किया ? कौन सा [illegible] जिसने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को राजपाट त्यागकर वनवास के लि [illegible] किया ? सत्य और राम का प्रकाश ? अगर किसी के जीवन में उसमें [illegible] परिवार, धन, मकान, आदि तमाम सांसारिक [illegible] हुन जरा भी नहीं हिचकिचाता । हँसते-हँसते [illegible] एक ओर सत्य और राम के सिवाय और कोई [illegible]

हो तो आपको उसका सही-सही पता-ठिकाना लिखना ही होगा। चैक पर भी आपको ठीक उसी की हस्ताक्षर करने पड़ेंगे। इस प्रकार जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में सत्य के बिना व्यवहार चलना कठिन है। अब आप समझ गए होंगे कि जीवन का व्यवहार असत्य से नहीं, सत्य से ही चल सकता है। सत्य स्वाभाविक है, जबकि असत्य बनावटी है, वह सदा हुआ है, उसके लिए दिखावट, बनावट करनी पड़ती है।

प्रभु ! विनय यही है चरणन मे।
हो सन्मति जन-जन के मन मे॥
सत्य का सब देश पुजारी हो,
हठवाद की दूर बीमारी हो।
अभिमान न हो, मानव मन मे॥
सत्य ही सोचे, सत्य ही बोले,
सत्य ही नापे, सत्य ही तोले।
रहे मस्त सदा सत्प्रण मे॥

सत्य का पुजारी अन्तर की जितनी गहराई मे पैठ गया है। वह सत्य को केवल वस्तु नही बनाकर सारे देश का आदर्श बनाना चाहता है और [illegible] हठवाद, मिथ्याग्रह की बीमारी को दूर करना, जिसका मूल अभिमान है। [illegible] मे सत्य का ओत-प्रोत देखना चाहता है। सारा समाज [illegible] विचार करे सत्य ही सोचे, सत्य की पुष्टि मे ही [illegible] [illegible] प्रमाण-अप्रमाण का नाप तौल करे। [illegible] कि सारे समाज का धर्म सत्य हो जाए समाज [illegible] सत्य की धारा मे अपने जीवन को ओतप्रोत कर [illegible] सत्य पर आधारित समाज की बुनियाद मजबूत [illegible]

रखती है। दण्ड या निन्दा के भय से सत्यनिष्ठ व्यक्ति पहले से ही असत्य का मार्ग छोड़ देता है। जो दुष्कृत्यों, दुराचरणों एवं दुर्व्यवहारों से बचा रहता है वह अपमान, निन्दा अपवाद आदि के आघातों से सुरक्षित रहता है। सत्याश्रयी एवं सत्यनिष्ठ व्यक्ति निर्भय, निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व एवं सुख-शान्ति से परिपूर्ण रहते हैं। वह स्पष्ट होकर व्यवहार करता है। न तो उसे कहीं भय होता है और न ही आतंक। सत्य मनुष्य के सम्मान, प्रतिष्ठा और आत्मगौरव के लिए अमोघ कवच है। सत्य जो इस कवच को धारण कर लेता है, उसके लिए निन्दा, अपमान की कहीं कोई कारण नहीं रहता। वह अजातशत्रु होकर समाज को अपने प्यार से जीत लेता है।

त्याग करने का विधान किया। स्थावर जीवों की हिंसा (सूक्ष्महिंसा) का त्याग करने का विधान नहीं किया, लेकिन उसके सम्बन्ध में विवेक रखने की बात कही है। किन्तु जिसने अभी तक अहिंसा और सत्य के पथ पर कदम ही रखा है, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अभी ही पूर्णरूप से उनका पालन करने लगे। उसे सर्वप्रथम अहिंसा और सत्य की विविध भूमिकाएँ हैं, अपनी शक्ति-स्थिति का विचार कर उन भूमिकाओं को पार करके वह क्रमशः आगे बढ़े, यही उचित है।

यों तो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी में जीवन है, अतः जैनधर्म ने सभी प्रकार की हिंसा से निवृत्ति का उपदेश दिया है। पंचेन्द्रिय की रक्षा करो और एकेन्द्रिय को मारो या मारते रहो, यह कहीं नहीं कहा गया है। प्राणिमात्र के प्रति तुम्हारा दया-करुणा का व्यवहार होना चाहिए। तुम जिन जीवों से अपने मनोवांछित विकसित जीवनकार्य [illegible] करते हो, जिन जीवों से तुम्हारे शरीर की विविध आवश्यकताएँ [illegible] उन सबके प्रति तुम्हारे हृदय में करुणा का निर्झर बहना चाहिए। फिर क्रमशः आगे बढ़ो और अपने हृदय के कण-कण में अपनी करुणा को फैला दो। पृथ्वी, जल, [illegible] के प्रति व्यवहार करने के लिए उनका उपयोग कम से कम [illegible] आगे बढ़ो उनकी रक्षा करने का प्रयत्न करो।

एक देव उसके सत्य की परीक्षा करने के लिए आया और गर्जता हुआ बोला— "हे अर्हन्नक ! तुम धर्म का ढोंग करते हो । अपने सत्य का परित्याग कर दो, अन्यथा मैं तेरे जहाज को समुद्र में डुबा दूंगा ।" अर्हन्नक पक्का श्रावक था, सत्य धर्म के रंग में रंगा हुआ था । उसके सामने एक ओर जहाज में लदा हुआ करोड़ों का माल था, तो दूसरी ओर बैठे हुए अनेक मनुष्यों का जीवन-धन था, और दूसरी ओर था—अकेला सत्य ! ऐसी विषम परिस्थिति में भी अर्हन्नक अपने सत्य पर दृढ़ रहा । वह किसी भी भय या प्रलोभन से विचलित नहीं हुआ । देव अर्हन्नक की सत्यधर्म पर दृढ़ता देखकर अति प्रसन्न हुआ और अपने स्थान पर चला गया ।

ही हुआ। कुछ ही देर बाद हमलावर गुण्डे आए और पूछताछ करने लगे—'क्या तुम्हारे घर की औरतें और लड़कियाँ ?' उन्होंने कह दिया—'वे यहाँ नहीं हैं।' वे पड़ोसी मुसलमान के यहाँ पहुँचे। उससे पूछा—"तुमने जिन हिन्दू औरतों को छिपा रखा है, वे कहाँ हैं ? सच-सच बता दो।"

वृद्ध और बुद्धिमान ने कहा—"हम खुदा की कसम खाकर कहते हैं कि यहाँ कोई औरतें नहीं हैं।"

फिर भी गुण्डों को शक था। उन्होंने धमकी देते हुए कहा—"देखो, हमें नाहक परेशानी में मत डालो। झटपट बता दो। हमें शक है कि वे तुम्हारे घर में छिपी हैं।"

कई लोग यह कहा करते हैं, कोई कन्या अंगहीन हो, कुरूप हो या मंदबुद्धि हो तो गरीब पिता यदि झूठ नहीं बोलता है तो उस कन्या की शादी होनी कठिन हो जाएगी, बताइए उस कन्या को बेचारा गरीब पिता कब तक घर में रखेगा, उसकी ऐसी कन्या के सम्बन्ध में अगर झूठ बोलकर काम बनाया जाय तो क्या हर्ज है ?

इसका समाधान यह है कि आजकल तो लोग दलालों के माध्यम से स्वयं वर कन्या को देखते हैं, लड़के-लड़की भी एक-दूसरे को देख-परख कर विवाह की हाँ करते हैं। इसलिए कन्या के विषय में झूठ बोलने पर कलई खुलते, यह झूठ चलेगा नहीं। मान लो, कदाचित् कोई व्यक्ति विवाह में अन्धे या कन्या को देखे बिना ही सगाई पक्की कर लेता है या शादी कर लेता है, बाद में जब पता चलता है, तब कन्या पर आफत आ जाती है। उस कन्या को [illegible] कर आत्महत्या करने को विवश कर दिया जाता है। [illegible] कन्या के विषय में बोला गया झूठ भयंकर परिणाम लाने वाला था

आजकल इस प्रकार की चोरी बहुत अधिक प्रचलित है। जो व्यक्ति सेंध लगा कर या डाका डालकर चोरी करते हैं, वे तो शीघ्र गिरफ्तार किये जा सकते हैं, परन्तु ऐसे विनिमय चोरों को गिरफ्तार करना बड़ी टेढ़ी खीर है।

मिलावट की समस्या इन दिनों भयंकर रूप धारण कर रही है। खाद्य पदार्थों तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं में मिलावट करना आज आम बात हो गई है। पहले बढ़िया और बढ़िया चीजें तो बाजार में सदा से बेची जाती थी, और कुछ चीजें तो बहुत महँगी होती थी, नकली बनाकर भी बेची जाती थी। जैसे कपूर, केसर, कस्तूरी, लोचन आदि। परन्तु इस समय प्रायः सभी चीजों में नकलीपन की बदबू आती है। नमक जैसी वस्तुओं में भी पत्थर का चूरा, मिट्टी आदि डालकर बेचा जाता है, जिसकी शिकायत गृहणियाँ बार-बार करती रहती है।

झझटो से ऊब कर आत्म-हत्या करने का विचार किया। इसके लिए वह कहीं से कोई विष खरीद लाया, जिसे खाकर रात्रि को सो गया। वह निश्चय करके सोया कि आज रात को मेरी जीवन-लीला समाप्त हो जाएगी, पर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब दूसरे दिन प्रात काल वह भला चंगा उठ खडा हुआ। उसने सोचा कि इस जमाने मे जहर का शुद्ध मिलना भी असम्भव-सा हो गया है।

सरकारी कर्मचारी या अधिकारी मिलावट की रोकथाम करने के लिए किये जाते है, उनकी विशेष जाच करने के लिए गुप्तचर और इन्सपेक्टर भी किये जाते है, पर नतीजा बहुत कम आता है। दस बीस व्यक्ति पकडे भी जाते है, उन्हे कुछ अर्थदण्ड और कुछ महीनो की कारावास की सजा देकर छोड दिया जाता है। रिश्वत देकर भी कई चालाक लोग छूट जाते है। यह कार्यवाही तो ऐसी है, जिस प्रकार ऊँट के लिए ऊँट की बूट चाटने के समान है। ऐसी छुटपुट कार्यवाहियो से मिलावट कैसे रुक सकता है? प्रथम तो सरकारी कर्मचारियो मे भी भ्रष्टाचार घुसा हुआ है। वे सैकडो मामलो को रिश्वत लेकर छोड देते है। कदाचित् कभी कोई अपराध देना भी पडे तो उसे हजारो रुपये प्रतिमास की आय मे से थोडा सा दण्ड देना पडे तो वह घाटे की चिन्ता नही करता।

गया गड़बड़ी हुआ, अत उस केन्द्र मे परीक्षा देने वाले ४७२ परीक्षार्थियो [illegible] फल रद्द कर दिया गया।

तस्कर व्यापार : विनिमय चोरी की विभीषिका

सरकारी नियन्त्रणो, अनेक विदेशी पदार्थों पर बहुत अधिक टैक्स, [illegible] उनी पर लगाए गये विशेष आयकर आदि ने एक नये प्रकार के व्यापारिक [illegible] को जन्म दिया है, जिसे 'तस्कर व्यापार' कहा जाता है।

इसमे बड़े-बड़े करोड़पतियो का हाथ रहता है, जो विदेशो मे चोरी [illegible] मगाते है और उसे बहुत नफे पर इस देश मे बेचते है। ऐसे पदार्थों मे सो [illegible] सोना है, जिसकी कीमत भारत वर्ष मे अन्य देशो की अपेक्षा लगभग दुगुनी [illegible] महगी होने की सम्भावना ने बहुत से लक्ष्मीनन्दनो को विदेशो से चोरी छिपे सोना [illegible] ही रात मे करोड़ो रुपये कमा लेने को प्रेरित किया है। चूकि प्रत्येक समुद्र [illegible] पर सरकारी कस्टम विभाग के कर्मचारी तैनात रहते है, जो बाहर से [illegible] माल की तलाशी करते है। पर ये तस्कर व्यापारी ऐसी-ऐसी तरकीबे [illegible]

उस प्रकार देश के बडे और छोटे वर्गों मे बेईमानी, हराम की कमा
प्रवृत्ति दिन पर दिन वृद्धि पर है और हर एक व्यक्ति की यही मनोवृत्ति रहती है
वह कम से कम परिश्रम मे अधिक से अधिक धनोपार्जन कर ले। इस चौर्यवृत्ति
क्या पाप है ? कैसी बदनामी होगी ? अथवा देश और समाज की क्षति
होगी ? इसका किसी को ख्याल तक नही आता। रिश्वत लेने वाले इस
हो गए है कि अफसरो के बार-बार कहने पर भी सुनी-अनसुनी कर देते
काम मे ढील करते रहते है और जब तक उनको अपनी दक्षिणा नही मि
कोई न कोई बहाना निकाल कर काम को पूरा नही होने देते। मिसे
स्टेशन के एक बडे अधिकारी ने बतलाया कि उनको किसी मामले मे क
निरन्तवाली थी, पर वह कई बार कहने पर भी नही निकाली गई। ए
असिस्टेंट इजीनियर ने कहा कि 'फाइल तीन दिन के अन्दर आप
पर उपस्थित की जाय।" असि० इजीनियर दफ्तर के कर्मचारियो के भेद को जा
था। इसलिए उसने किसी प्रकार का हुक्म देने के बजाय अपने पास से ५ रुपये
उधार करके दो रिमाइंडर आफिस भेजा। फलत वह कलर्क तुरन्त फाइल ले
गया। पश्चात् कर्मचारियो ने अपने विभाग के इजीनियर के साथ भी

महकमों में यह दीर्घसूत्रता बहुत अधिक पाई जाती है। लालफीताशाही देश की उन्नति में बहुत ही बाधक है। जब तक सरकारी कर्मचारियों की मुट्ठी गर्म न हो तब तक वे देश और समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझ कर कोई भी काम नहीं करते।

एक डाक्टर है, उसका कर्तव्य है कि कोई भी बीमार किसी भी समय उसे देखने के लिए बुलाए तो अन्य सब कार्य छोड़कर तुरन्त वहाँ पहुँचे। कई डाक्टर ऐसे थे। कोई गरीब से गरीब व्यक्ति भी आ जाए तो वे उसे देखने में आनाकानी नहीं करते थे। तुरन्त उसके यहाँ चल देते थे। एक डॉक्टर था। वह अत्यन्त ही सिद्धान्तनिष्ठ एवं कर्तव्यपरायण था। एक दिन वह अपने दवाखाने में घर आराम कर रहा था, तभी एक व्यक्ति अपने रोगी को दिखाने हेतु बुलाने आया। बोला—"रोगी बहुत ही गम्भीर है, उसी समय चलिए।" डॉक्टर साहब अनिच्छा से कपड़े पहन कर चलने को उद्यत हुए। उनकी पत्नी ने कहा—"इसी क्या जल्दी है? दो घंटे बाद जाइए। पाँच मिनट बाद जाइए।" परन्तु कर्तव्यनिष्ठ डाक्टर ने उत्तर दिया—"मुझे रोगी का बुलावा आ गया तब यहाँ एक मिनट भी ठहरना और बात करना उचित नहीं है। उसकी पुकार सुनकर एक मिनट भी ठहरना [illegible]

तो वह मानसिक चोरी कहलाएगी, जो कायिकचोरी की जननी है। जिस वस्तु पर व्यक्ति का वास्तविक अधिकार न हो, फिर भी मन मे उसे पाने की अभिलाषा होती हो तो वह बीज-रूप चोरी मानी जाएगी।

कोई सोचता है कि मैं अमुक सस्था का व्यवस्थापक बन जाऊं। अथवा राज्य का मन्त्री बन जाऊं। इस प्रकार अपने पास जो अधिकार या पद नहीं, उसकी अभिलाषा करता है। अपने मे योग्यता न होते हुए भी वैसी वस्तु या स्थिति की कामना करता है, अथवा अपार धनराशि की इच्छा करता है, यह सब मानसिक या बीजरूप चोरी है।

कई लोगों का कहना है कि महत्त्वाकांक्षा नही करेंगे तो आगे कैसे बढ़ सकेंगे ? इसके उत्तर मे यही कहना है कि अगर व्यक्ति मे योग्यता है तो अनुकूल वस्तु या पद उसे मिले, उस प्रकार की व्यवस्था करना समाज का है, वह करेगा भी। जब समाज उस व्यक्ति मे योग्यता नही देखता है तो, उसे वस्तु नही करता, उस समय महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति पहले कामना करता है, फिर प्रयत्न करता है, फिर प्रतिस्पर्धा तथा ईर्ष्या पैदा होती है और अन्त मे [illegible] हो सकता है। इस तरह वह बीजरूप चोरी प्रत्यक्ष चोरी के रूप मे [illegible]

शान्तनु वह हार लेकर सेठ जी की दूकान पर पहुंचा और हार गिर्व उस पर रुपये देने की प्रार्थना की। सेठ बुद्धिमान थे। शान्तनु की मांग प समझ ली, और कहा—"भाई! हार गिरवी रखने की कोई जरूरत नहीं। चाहिए तो यों ही उधार ले जाओ।" परन्तु शान्तनु के बार-बार आग्रह दाम ने वह हार अपने यहां गिरवी रख लिया और यथेष्ट रुपये दे दिये।

शान्तनु के चले जाने पर सेठ ने सोचा—शान्तनु ने मेरा हार चुरा उसका दोष नहीं है। इसे अत्यन्त लाचारी की स्थिति में यह हार चुराना परन्तु उसकी ऐसी दयनीय परिस्थिति देख कर भी मैंने उसे किसी प्रका धन्धा न दिया, न उसे धन्धे में मदद दी। एक जाति भाई व साधर्मिक भ मुझे जान लेना चाहिए।" यों सेठ मन ही मन पश्चात्ताप कर रहे थे।

योद्धाओ को लेकर व्यूहरचना करके दूसरे के बल का नाश करके उनका [illegible] लेते है।

और भी कहा गया है—अनुकम्पारहित, परलोक के भय से विमुख [illegible] ग्राम, नगर, खान, आश्रम, आदि तथा समृद्ध देशो को लूट लेते है तथा उन्हे नष्ट कर डालते है। चोरी करने मे ही रातदिन मशगूल, कठोर हृदय, दारुण बुद्धि पुरुष लोगो के घरो मे सेंध लगा कर, घर मे रखे हुए धन-धान्यादि का हरण करते है, सोये हुए गाफिल लोगो को लूट लेते है। धन की टोह मे ऐसे लोग [illegible] गम्य-अगम्य स्थान का विचार नही करते। जहाँ रक्त से जमीन लथपथ है, जहाँ मृतको के शव रक्त मे सने पड़े हो, जहाँ डाकिनी-शाकिनी [illegible] हो, उल्लू, सियार आदि भयानक पशु-पक्षी आवाज कर रहे हो, ऐसे घोर [illegible] मे, सूने मकानो मे, पर्वतीय गुफाओ मे, साप-बिच्छू आदि भयंकर [illegible] है, ऐसे विषम नगरो मे रहकर सर्दी-गर्मी की पीड़ा सहते है तथा रातदिन इसी धुन मे रहते है कि किसका धन हरण करें। ऐसे भयंकर स्थानो मे रहते हुए [illegible] मांस, मदिरा आदि का भोजन-पान करते है, और कभी [illegible] जो कुछ भी मिल जाए, वही खा लेते है। जिस प्रकार [illegible] मे इधर-उधर घूमता रहता है, उसी प्रकार [illegible] पराये धन की तलाश मे जान हथेली मे लिए इधर-उधर घूम[illegible] [illegible] कष्टो को सतत सही भोग [illegible] [illegible] पापी, [illegible] [illegible] [illegible]

मात्रा—सातवे व्रत—उपभोग-परिभोग परिमाण द्वारा बढाते रहने, और [illegible] हमेशा परीक्षण और छानबीन करते रहना चाहिए। अस्तेय व्रत के [illegible] का यह एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है कि वह सदा आत्म-निरीक्षण-परीक्षण [illegible] और जहाँ भी अपने मे जो दोष या न्यूनता दीखे, उसका उसी क्षण परि[illegible] रहना चाहिए। अस्तेय की दिशा मे प्रगति का प्रतिक्षण परीक्षण करते [illegible] श्यक है। अस्तेय का हार्द कम से कम वस्तु से अपना जीवन चलाना है। [illegible] मे बहुत-सी आवश्यकताएँ हो सकती है, लेकिन अस्तेयव्रत [illegible] वाला श्रावक जो आवश्यकताएँ, अतिरिक्त, काल्पनिक, गौण अथवा अना[illegible] हो, उन्हे कम करना या धीरे-धीरे छोडने की दिशा मे प्रयत्न करना चा[illegible] आवश्यकताओ को घटाने का सकल्प सच्चा हो तो साधक मे त्याग [illegible] जाता है। आवश्यकताएँ कम करने मे नियम, सयम और विवेक [illegible] सहायता दे सकते है। आवश्यकताएँ तथा धन की तृष्णा जितनी कम [illegible] ही आत्मसन्तोष बढेगा, देहासक्ति कम होगी, मनुष्य कष्टसहिष्णु [illegible] परिस्थिति का मुकाबला करने मे सक्षम होगा। इससे शरीर भी आरोग्य [illegible] पुष्ट होगा, समाज मे असमानता या वर्गभेद मिटने मे अस्तेयव्रत से [illegible] होगा। इस प्रकार अस्तेयव्रत का पालन सहज भाव से हो सकेगा। [illegible] आत्मविश्वास, निष्ठा और दृढतापूर्वक आचरण।

जब चोर भी सुधर जाते है, तब जो अस्तेयव्रत का साधक है, [illegible] [illegible] कौन-सी बडी बात है? वर्तमान युग के तस्कर, डाकू, चोर [illegible] [illegible] तो सुधर सकते है। जर्मनी का एक चोर [illegible] [illegible] जो अभी भी [illegible]

[illegible]

टूटी।" मतलब यह है कि बाजार-भाव से विशेष कम दाम मे प्राय आधे दाम मे जो चीज मिलती है, वह प्राय चोरी की समझनी चाहिए। वैसे जिसका काम चल जाता है या जिसे वैसे ही जरूरत होती है, उसकी चीज भी बाजारभाव से सस्ती मिलती है, लेकिन वह इतनी सस्ती नही होती, जितनी कि चोरी की वस्तु होती है। दबा-छिपा कर गुपचुप बेचने वाले लोगो की चीज के विषय मे चोरी की वस्तु होने का सन्देह हो सकता है। अत ऐसी वस्तु, जिसके विषय मे सन्देह हो, पूछताछ करने पर भी उसके विषय मे विश्वास न हो ऐसी वस्तु का न खरीदना ही अच्छा है।

केवल खरीदना ही नही, चोर की चुराई हुई वस्तु को अपने घर मे रखना अथवा चोर डाकू आदि को अपने घर मे आश्रय देना भी न केवल सरकार की दृष्टि मे अपराध है, इस व्रत का अतिचार भी है।

कई लोग डाकुओ या चोरो या तस्करो द्वारा लूटा हुआ, चोरी किया हुआ या कस्टोडी मे लाया हुआ माल सस्ते के लालच से खरीदते है, ऐसे चोरो, डाकुओ या तस्करो को प्रोत्साहन देकर उनके द्वारा चुराये हुए माल को लेने का व्यवहार है। यह व्यवहार भी अनाचार है, अतिचार है, क्योकि इससे भी चोरो को चोरी करने का प्रोत्साहन मिलता है।

[illegible] दूसरा अतिचार

सुनते हैं, कई लोग दो तरह के बाँट रखते हैं, लेते समय अधिक वजन के और देते समय कम वजन के, इसी तरह पैमाने भी दो तरह के रखते हैं, लेते समय अधिक नाप के, और देते समय कम नाप के। तौलने-नापने में वे ऐसी चतुराई से काम लेते हैं कि दी जाने वाली वस्तु तौल-नाप में कम होती है, और ली जाने वाली वस्तु तौल-नाप में ज्यादा।

तत्प्रतिरूपक व्यवहार : पाँचवा अतिचार

किसी अच्छी वस्तु में उसी के सदृश नकली अथवा उसमें मिल जाने वाली वस्तु मिलाकर देना, तत्प्रतिरूपक व्यवहार है।

किसी अच्छी वस्तु में घटिया चीज का मिश्रण करना आज के व्यापार में आम बात हो गई है। कई व्यापारी नमूना बढ़िया चीज का दिखाते हैं, और समय घटिया किस्म की चीज दे देते हैं। ग्राहक के साथ ऐसी धोखेबाजी रोज की बात हो गई है। गेहूँ में कंकर, मसालों में विभिन्न चीजें, घी में चर्बी, दवाइयों में घटिया किस्म की मिलाकर बेचना—सरासर अनाचार है। नकली चूरे के लेन-देन हो जाता है तो अतिचार है। पैसे कमाने के लिए इस प्रकार की धोखेबाजी करना चोरी है। जीरे में रेत मिलाना, जूट या कपास में [illegible] चीनी में नकली चीज, दूध में पानी मिलाना। चोरी नहीं [illegible] के व्यवहार में पड़कर इस अप्रामाणिकता में पाप का भान [illegible] व्यक्ति के व्यवहार का मूल और अस्तेय दोनों का भंग होता है।

[illegible] में इस प्रकार [illegible] प्रामाणिकता, [illegible] और आत्म-विश्वास [illegible] के [illegible] अपना कल्याण करें।

बाहर दोनों साधनों को ठीक रखता है। जब बाहर के साधन खोखले हो जाते हैं, अन्दर के साधन भी काम नहीं देते, न पवित्र एवं ऊँचे विचार आते हैं, न उनमें ओजस्विता होती है, न आचरण के क्षेत्र में ही चरण बढ़ते हैं। जीवन शून्य-शून्य सा मालूम लगने लगता है, ब्रह्मचर्य के अभाव में। इसलिए मानव शरीर वासना की आग में झोंककर नष्ट कर देने के लिए नहीं, विवेक भ्रष्ट होकर विकारों के पंक में लोटने के लिए भी नहीं है, अपितु सर्वेन्द्रिय-संयम के द्वारा उत्तमोत्तम गुणों का उपार्जन करने के लिए है। यही सोने की गिनती है।

सौन्दर्य का मूल : ब्रह्मचर्य

मनुष्य कामिनी का रूप-सौन्दर्य निहार कर उसमें लुब्ध हो जाता है, दीवाने की तरह पतंगे के समान अपना सर्वस्व होम देते हैं। उनके पास [illegible] नहीं पहुंचता, प्रत्युत वे अपने ही रूप, सौन्दर्य, मनोबल, इन्द्रियबल को भी अपने ही हाथों से अपने सौन्दर्य में आग लगा देते हैं।

[illegible] में काले-कजरारे बादल मंडरा रहे हैं। सन्ध्या की सुनहरी [illegible] अपनी रंग-बिरंगी किरणों के साथ विदा लेता हुआ अस्ताचल की ओर [illegible] है। [illegible] में आकाश में तना हुआ इन्द्रधनुष कितना सुन्दर लगता है [illegible] एकटक दृष्टि से उसे निहारते ही रहे!

[illegible] है। खेतों में गेहूँ के हरे-भरे पौधे लहरा रहे हैं। [illegible] पर ओस की बूंदें चमक रही हैं। [illegible]

[illegible]

र्थाय मैथुनम्' की बात क्षम्य मानी थी, लेकिन आज यदि ऐसी विकृत मान्य
यकता नहीं है तो ब्रह्मचर्यव्रत का खण्डन क्षम्य नहीं माना जाना चाहि
साथ समझा जाना चाहिए तभी वर्तमान मानव समाज उत्तम होगा, आदर्श
होगा। क्योंकि अब्रह्मचर्य के साथ अनेक अपराध, दोष अथवा शारीरिक म
तो अधर्म जीवन के साथ चिपक जाते हैं। उदाहरणार्थ—ब्रह्मचर्य नहीं
व्यक्ति द्वारा स्त्रीयोनि में ९ लाख जन्तुओं की उत्पत्ति मैथुन सेवन से होती है।
के सिवाय बाकी के प्राय नष्ट हो जाते हैं, उसलिए हिंसा का दोष तो है ही।
भाव को छोड़कर इन्द्रियादि विषय रूपी विभाव में रमण करना अब्रह्म
का दोष भी है। शारीरिक, मानसिक पतन, दुर्बलता, थातुक्षय, कई रोग
आदि से अपने शरीर के सत्व को नष्ट करना भी पाप है, अधर्म है। अब्र
से व्यक्ति कामी, क्रोधी, लोभी, द्रोही, स्वार्थी आदि अनेक दोषाक्रान्त हो
इसीलिए भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि आपने अब्रह्मचर्य को
दिया है तो उन्होंने निम्नोक्त उद्गार व्यक्त किये—

मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सय।
[illegible] ॥[1]

ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम का नम्बर आता है, इसमे पति-पत्नी [illegible] की परस्परनिष्ठा और विकास हो, इस रीति मे सयमित रहने की बात [illegible] दी है। सिर्फ सन्तान प्राप्ति के हेतु से ही स्त्री सहवास, शेष समय ब्रह्मचर्य का [illegible] रखना चाहिए। इस पद मे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गृहस्थाश्रम की आ[illegible] ब्रह्मचर्य है। कई लोग कहते है कि गृहस्थाश्रम भोग के लिए है, परन्तु [illegible] भारतीय धर्म इस बात से सर्वथा इन्कार करते है। गृहस्थाश्रम मे भी सन्तान [illegible] इच्छा के साथ-साथ सन्तान-सेवा, परिवार-सेवा और क्रमश समाज और राष्ट्र [illegible] विहित है। इसलिए गृहस्थाश्रमी भी ब्रह्मचर्यलक्षी होना चाहिए, [illegible] स्वपत्नी के सिवाय अन्य सब स्त्रियाँ माता, बहन या पुत्री के समान [illegible]। [illegible] भी मर्यादित ब्रह्मचर्य मे रहे। गृहस्थाश्रम मे भी थोड़ी-सी वासना [illegible] ब्रह्मचर्य ही अधिकांश मात्रा मे है। थोड़ी-सी जो वासना है, उस पर भी [illegible] करने के लिए गृहस्थ-शब्द के साथ आश्रम-शब्द जोड़ा गया है। [illegible] शास्त्रों का भी यही मत है कि गृहस्थाश्रम का अन्तिम आदर्श [illegible] है। [illegible] के [illegible] के लिए [illegible] है। इसका अर्थ यह है—[illegible]। [illegible] गृहस्थाश्रम विश्रामरूप है।

[illegible] कि [illegible] भी आजीवन ब्रह्मचारी रहे थे। [illegible] करते हुए भी [illegible] स्वीकार किया था, [illegible] जीवन व्यतीत किया। [illegible] गया था, [illegible]

[illegible]

यौवन में प्रवेश करते ही उसका विचार आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन करने का था। पर अपनी माता के अत्यन्त प्रेमाग्रह के कारण मद्रदेश के कौशिक ब्राह्मण की पुत्री भद्रा के साथ विवाह सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ा। महाकाश्यप ब्रह्मचर्य पालन करना चाहता था, वैसे भद्रा भी आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करना चाहती थी। परन्तु समय की प्रथा के अनुसार दोनों को एक ही शयनगृह में, एक ही शय्या पर सोना पड़ता था। भद्रा दोनों के बीच दो पुष्पमालाएँ रख देती और कहती—"जिसका पुष्पमाला मुर्झा जाय, समझा जाएगा कि उसके मन में काम विकार उत्पन्न हुआ।" माता-पिता के जीवित रहते महाकाश्यप प्रच्छन्नरूप से ब्रह्मचारी रहा। माता-पिता स्वर्गवास होने के बाद वह बौद्ध भिक्षु बन गया, भद्रा ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। वह बौद्धभिक्षुणी बन गई।

जहाँ ब्रह्मचर्य का बल होता है, उसके मस्तिष्क मे छह महीने तो क्या, वर्ष पुरानी स्मृतियाँ भी ज्यों की त्यो उपस्थित रहती है । ब्रह्मचारी का मस्तिष्क अत्यन्त उर्वर एव सशयशील होता है ।

श्रीमद्राजचन्द्रजी की ब्रह्मचर्यनिष्ठा के कारण उनकी स्मरण-शक्ति इतनी थी कि वे एक साथ एक हजार अवधान कर लेते थे । 'सहस्रावधानी' के नाम से प्रसिद्ध थे ।

जिस भाषा का उन्होने अध्ययन नही किया था, उसमे कठिनतम ग्रन्थो के आगमो मे स्मृतिलोप मे रस लेने थे, और बाद मे ज्यो का त्यो कह देते थे । यह सब ब्रह्मचर्य साधना का परिणाम है ।

जैन शास्त्रो मे पदानुसारिणी लब्धि का उल्लेख है, एक पद या पूरा पृष्ठ पढ़ते सुनते ही उस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय सारा विषय या उन विषयो के ग्रन्थ याद हो जाते थे । जैन इतिहास मे आचार्य आर्यरक्षित को यह विद्या उपलब्ध थी । इस युग मे स्वामी विवेकानन्द को भी इसी प्रकार की उपलब्धि प्राप्त थी । लोग पृष्ठ पर पृष्ठ उलटते जाते है, पर शिक्षित व्यक्ति एक ही नजर मे सारी लाइन पढ़ लेता है । स्वामी विवेकानन्द की आँखे तो सारा पेरेग्राफ या सारा पृष्ठ पढ़ती थी ।

समुद्र पार करने के लिए ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट साधन कहा है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में इस बात का साक्षी है, वहाँ उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य के धनी तीर्थंकर महावीर ने ब्रह्मचर्य की महिमा बताया है कि "ब्रह्मचर्य अन्त करण को पवित्र व स्थिर रखता है, मुक्ति का आकर्षित है, मोक्ष मार्ग है, सिद्ध गति का धाम है, शाश्वत है, बाधा-पीड़ा से रहित है, जन्ममरण (अपुनर्भव) है, प्रशस्त है, रागादिक का अभाव करने में सहायक होने से शिव है, दुःखद्वन्द्वादि से रहित होने से अचल, अक्षय है, सुरक्षित, सुचरित, सुनिस्पित, भव्य है, भव्यजनों द्वारा आचरित है, मलरहित है। विशुद्ध है, प्राणियों में मुक्ति दिलाने वाला, सत्य एवं सर्वोत्तम ज्ञानरूप है।[१]

विद्वान लोग ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते नहीं थकते। ब्रह्मचर्य के गुणों एवं उसमें होने वाले लाभों का वर्णन करते हुए विद्वान् कहते हैं—

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभो भवत्यपि।
सुरत्व मानवो याति चान्ते याति परा गतिम्॥
ब्रह्मचर्यं पालनीय देवानामपि दुर्लभम्।
वीर्ये सुरक्षिते यान्ति सर्वतोकार्यसिद्धय।

वर-वधू को प्रतिज्ञाबद्ध होना पड़ता है। किसी भी राष्ट्र के शासनकर्ता [illegible] अधिकार या पद ग्रहण करते है, तब शपथ लेते हैं। प्राचीनकाल मे जो [illegible] देता था, वह सकल्प करता था। इसलिए ब्रह्मचर्य जैसे उच्च यम-नियम [illegible] करने के लिए सकल्प या व्रत ग्रहण करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य व्रत के [illegible] मे स्वीकार करने से लाभ ही है, हानि नही है। व्रतरूप मे ब्रह्मचर्य का [illegible] करने मे जो इहलौकिक-पारलौकिक लाभ मिलना चाहिए, वह पूर्ण [illegible] पाता।

व्रत-स्वीकार करने से पारिवारिक, सामाजिक और आत्मिक लाभ

ब्रह्मचर्यव्रत का स्वीकार करने से परिवार और समाज को भी [illegible] ब्रह्मचर्य—चाहे मर्यादित रूप मे ही क्यों न हो, जब गृहस्थ स्वीकार कर [illegible] ब्रह्मचर्य की मर्यादाओं का पालन करने से शारीरिक, मानसिक [illegible] [illegible], जो मैंने [illegible] प्रवचनों मे बताए [illegible], साथ ही पारिवारिक [illegible] [illegible] है। उस मर्यादित ब्रह्मचारी के परिवार मे संयम, सादगी [illegible] [illegible]। उसके परिवार मे ब्रह्मचर्य-पालन की परम्परा बढ़ेगी। [illegible] [illegible] मर्यादित ब्रह्मचारी की सतान [illegible], सदाचारी, दीर्घायु [illegible] [illegible]। देश और समाज को भी उसके [illegible] उसके परिवार [illegible] [illegible] मिल सकेंगे। [illegible] परमात्मा [illegible] [illegible] आत्मा [illegible] और [illegible]

उस जीव को न तो धर्म, पुण्य का ज्ञान था, न बुद्धि विकसित थी, इसलिए [illegible] भोगों का मनमाना सेवन किया, लेकिन उन-उन योनियों में बलात् काटकर [illegible] करने से पुण्यराशि बढ़ने के कारण वह आत्मा निगोद से निकलकर अनेक [illegible] योनियों में परिभ्रमण करके अनेक प्रकार के कष्ट सहता हुआ इस मनुष्य [illegible] प्राप्त कर सका है। अगर अब मनुष्यजन्म पाकर भी यह पशु आदि तिर्यंचों [illegible] भोगे जाने वाले दुर्विषयभोगों का सेवन करे, उन्हीं में रचापचा रहे, उन्हीं में मूर्छित जन्ममरण से मुक्त होने का या कम से कम पुण्य लाभ का उपाय न करे तो बढ़कर भूल या मूर्खता और क्या होगी ? यह तो चिन्तामणि रत्न खोकर [illegible] टुकड़ा पाने के समान है। पशु शरीर में भोगे जा सकने वाले भोगों को भोगकर [illegible] शरीर को नष्ट करना कौन-सी बुद्धिमत्ता है ?

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य शरीर दुर्विषयों के उपभोग के लिए नहीं है, उन्हें त्याग करके संयम और ब्रह्मचर्य के पथ पर चलने के लिए है। इसलिए [illegible] जन्म प्राप्त होने की सार्थकता दुर्विषयभोगों को त्यागकर ब्रह्मचर्य का [illegible] करने में है। यही कारण है कि आदितीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने अपने [illegible] यही उपदेश दिया था—

पुत्रो ! निश्चयतः यह मनुष्यतन दुःखदायक विषयभोगों के उपभोग [illegible] नहीं है, क्योंकि दुःखदायी विषयभोग तो विष्ठा खाने वाले तिर्यंच जीवों को [illegible] है। इसका मेरा सुझाव है कि यह शरीर विषयतप में लगाना [illegible] [illegible] मुक्त हो और शाश्वत ब्रह्मसुख पाप्त हो।"

कपाट के उद्घाटन से ससार मे कोई उपद्रव नही होता, कोई धन-सम्पत्ति प्रतिष्ठा की हानि नही होती। सामाजिक मर्यादा रूपी बाध की दीवार ढहने अवसर नही आता और जीवन की पवित्रता भी सुरक्षित रहती है।

इस प्रकार विवाह-प्रथा के प्रचलन के पीछे भगवान ऋषभदेव का था कि गृहस्थ विराट् वासना को एक पत्नी के साथ विधिवत् सलग्न होकर और ब्रह्मचर्य की काफी अंशो मे रक्षा करते हुए भविष्य मे पूर्ण ब्रह्मचर्य की वासना को पशु-पक्षी की तरह उच्छृखल रूप से सेवन करते हुए मानव उन्होने एक पत्नी मे केन्द्रित करने की बात कही। अन्यथा, मानव की स्थिति की-सी बन जाती। इस प्रकार मूल में, श्रावक के लिए आशिक ब्रह्मचर्य है, विवाह के क्षेत्र मे भी उनका आशय ब्रह्मचर्य रक्षा का है।

इस दृष्टिकोण को आप हृदयगम कर लेंगे तो आपको विवाह की ब्रह्मचर्यव्रत के रहस्य को भलीभाँति समझ सकेंगे।

शास्त्रो के गहन चिन्तन-मनन पर से मैं यह दावे के साथ कह सकता को विवाह पूर्णतया दायित्व समझ कर ईमानदारी के साथ उसे निभाते हैं। जाता है, तो वह भी ब्रह्मचर्य-साधना का ही एक रूप है। विवाह कर के धावक के स्वस्त्री के रूप मे सिर्फ एक द्वार के सिवाय ससारभर के सभी द्वार हो जाते हैं। इस प्रकार विवाह के अर्थगाम्भीर्य को समझ कर जो चलता है वही विवाह सच्चे माने मे सार्थक होता है। तभी उसमे ब्रह्मचर्य [illegible] है।

भाग यानी १०० मे से २५ वर्ष तक, गुरुकुल मे रहकर अविलुप्त [illegible] पालन करके फिर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करे।[१]

तात्पर्य यह है कि २५ और १६ वर्ष की आयु तक तो पुरुष [illegible] विवाह के सम्बन्ध मे कुछ भी सोचना नही है, सिर्फ अखण्ड ब्रह्मचर्य [illegible] जीवन अध्ययन मे बिताना है। तत्पश्चात् उन्हे अपने आपको परखना है [illegible] को विवेक के बाटो मे तौलना है, अपने आपको जाचना है कि मेरी [illegible] मैं कौन-सा मार्ग तय कर सकता हूँ, कौन-सा नही ?

भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य धर्म के दो रूप बताए है—(१) [illegible] पूर्ण नियन्त्रण और (२) वासनाओ का सादा बन्धन। दूसरे शब्दो मे [illegible] और आशिक ब्रह्मचर्य कहा जा सकता है। जिस साधक मे पूर्णरूप से [illegible] कण्ट्रोल करने का सामर्थ्य नही है, वह अगर उच्छृंखलरूप मे बढ़ी हुई [illegible] को विवाह करके एक परिगृहीत पत्नी मे सीमित कर लेता है, तो [illegible] पाप नही करता, बल्कि आत्मा को भयकर अधःपतन मे बचा लेता है। [illegible] वासना का अनियन्त्रित रूप तो जीवन की बर्बादी है, आत्मा का पतन है। [illegible] साधक मे यह क्षमता होती है कि मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन कर सकता हूँ, वह [illegible] झगड़े मे नही पड़ता। भीष्म पितामह पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने मे समर्थ थे [illegible] विवाह करने का मन मे विचार ही नही किया। वह कि उन्होंने पूर्ण ब्रह्म [illegible] करने की भीषण प्रतिज्ञा ले ली थी।

ताकि वह आग दूसरे मकानों में न फैले। यानी उस मकान की सीमा [illegible] आग को बुझाने का प्रयत्न किया जाता है। वह आग जो लगने के समय में [illegible] मकान, उस उपाय से बुझ जाती है, बढ़ने नहीं पाती। अत वह आग [illegible] ही बुझाई न जाने के कारण केवल सीमान्तर्गत घर की हानि कर सकी, [illegible] आग के सीमित कर दिये जाने से अनेक मकान भस्म होने से बच गए। ठीक यही [illegible] विवाह के विषय में कही जा सकती है। यदि मनुष्य अपने में कामवासना [illegible] उत्पन्न न होने दे, अथवा उत्पन्न होते ही विवेक व संयम द्वारा बुझा दे, तो [illegible] करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। लेकिन न दबा सकने पर वह आग [illegible] सीमित कर दी जाए तो वह आगे बढ़ने से रुक जाती है। इस प्रकार [illegible] हानि से बच जाता है।

फिर उसे ब्रह्मचर्याणुव्रत या देशविरति ब्रह्मचर्यव्रत नाम न दिया जाता। स्वस्त्री के साथ दिन हो या रात, समय हो या असमय, गर्भवती हो या ऋतुमती हो, अष्टमी हो, चतुर्दशी हो, पर्वतिथि हो या स्त्रीरुग्ण, विषद्ग्रस्त, किसी भी अवस्था में हो, विषय-सेवन किया जाता और फिर ब्रह्मचर्य का कोई अर्थ न रहता, न कोई अंकुश रहता। मगर ऐसी बात नहीं है, स्वदारसन्तोषव्रत में स्वच्छन्दता को कोई स्थान नहीं होता।

महात्मा गांधीजी, विनोबाजी तथा भारतीय ऋषियों एवं नीतिकारों ने कहा है कि विवाह करने में केवल सन्तानोत्पत्ति का ही विचार होना चाहिए। वासना की तृप्ति नहीं। कामेच्छा के वश होकर जिस सन्तान को मनुष्य जन्म देता है, वह कामज कहलाती है, वह धर्मज सन्तान नहीं है। जहाँ धर्मज सन्तान की उत्पत्ति विवाह का उद्देश्य हो, वहाँ अधिक सन्तान पैदा करने का अधिकार नहीं है।

राजकीय विधानों में उच्छृंखल कामवृत्ति तथा अविवाहितों में पाप फैलने के कारण, उस पर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रत्येक स्त्रीपुरुष को विचार करना चाहिए। नीतिकारों का इस विषय में स्पष्ट कथन है—

की तरह या गांधीजी तथा रामकृष्णपरमहंस की तरह पत्नी को माता मानकर तो फिर उन दोनों के सम्बन्धों में विकार को कोई स्थान नहीं रहेगा।

पति-पत्नी दोनों का सम्बन्ध शुद्ध, निर्विकार रहेगा। इस प्रकार काम-वासना की वृत्ति, जो दुःख की जड़ है, और पति-पत्नी के सम्बन्ध के साथ जुड़ी हुई कट जाएगी।

इसके साथ ही एक बात और विचारणीय है, वह यह कि केवल पत्नी के प्रति भावना को बदल देने से पुरुष कामविकार से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह किसी स्त्री को देखकर मन में विकार पैदा हो सकता है। इसलिए पत्नी सहित सभी नारी जाति के प्रति उस ब्रह्मचर्यव्रती गृहस्थ को अपनी भावना बदलने की आवश्यकता है। वह भावना है—मातृभावना, जो कामविकार से मुक्ति पाने का अचूक उपाय है।

रहे हैं, वह मैं आपके सामने उपस्थित हूँ। मुझसे बढ कर और कौनसी भेंट आप तप से प्राप्त करेंगे। लो, मुझे अपना कर अपना जीवन सफल करो छोडो इस कायाकष्ट को।

अर्जुन अपनी तपस्या मे मग्न था, रम्भा को माता के रूप मे देख [illegible] अत रम्भा ने अपना सारा कौशल अजमा लिया, फिर भी अर्जुन ब्रह्मचर्य से [illegible] भी भ्रष्ट न हुए। आखिर रम्भा ने अन्तिम अस्त्र फेंका। वह नग्न हो [illegible] सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति अप्सरा ने मोहित करने के लिए दैवी बल से आकर्षण [illegible] फिर भी वह अर्जुन का वीर्य न खींच सकी, न तपोभ्रष्ट कर सकी। अन्त मे [illegible] ने कहा—"माता! अगर आपने इस सुन्दर शरीर मे मुझे जन्म दिया है [illegible] और अधिक तेज आ जाता।" रम्भा लज्जित और पराभूत होकर वहाँ से

अर्जुन ने जिस प्रकार ब्रह्मचर्य रक्षा की, वैसे ही श्रावक को अपने ब्रह्मचर्य रक्षा को महत्त्व देना चाहिए।

वीर्यलाभ होते ही किसी प्रवृत्ति मे न तो स्वयं भाग लेना चाहिए [illegible] दूसरों को प्रेरित करना चाहिए। वीर्यरक्षा की साधना करने वाले [illegible] अपना चरित्र रखना चाहिए। कुत्सित विचारों को अपने पास न फटकने [illegible] मन वचन काया से पवित्र विचार रखना, आहार-विहार सम्बन्धी [illegible] की दृष्टि से आवश्यक है।

[illegible] ने ठीक ही कहा है, उस श्रावक को अपनी साधना [illegible] [illegible] करना उचित नहीं है। न उसे अपने [illegible] [illegible] उन साधनों मे भी ब्रह्मचर्य के [illegible]

[illegible]

विवाह नही हुआ है। लेकिन भ्रान्तिवश पूर्वोक्त प्रकार की गुंजाइश निकालकर अपनी विवाहिता स्त्री नही है, उसके साथ गमन करने को तैयार हो जाना परि[illegible] गमन अतिचार है।

इस शब्द का एक अर्थ यह भी है—जिस कन्या के साथ सगाई तो हो गई लेकिन अभी तक पंचसाक्षी से विधिवत् विवाह नही हुआ है, उसके साथ गमन करना भी अतिचार है।

अनंग-क्रीडा—काम सेवन के लिए जो प्राकृतिक अंग नही है, वे अंग माने है, उनसे काम क्रीडा करना अनंग क्रीडा है—जैसे हस्तमैथुन, गुदामैथुन, मर्दन, मुखमैथुन, कर्णमैथुन या चुम्बन आदि। स्वस्त्री के साथ भी इस प्रकार मैथुन सेवन करना अतिचार है।

परविवाहकरण—प्रतिज्ञा करते समय जिस स्त्री का नाम लेकर परिमाण किया गया है, उसके पागल हो जाने, रुग्ण हो जाने, मर जाने पर भी हो जाने पर भी उसके अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री के साथ विवाह करना परविवाहकरण अतिचार है। अथवा अपनी सन्तान के विवाह के सिवाय दूसरे लोगो [illegible] पुण्य समझकर या मेरिज ब्यूरो आदि खोलकर व्यवसायिक दृष्टि से [illegible] परविवाहकरण नामक अतिचार है।

कामभोगतीव्राभिलाषा—स्वदारसन्तोषव्रत कामभोग की [illegible] है, लेकिन कई लोग असमय मे, विपरीत परिस्थिति मे, रुग्ण, वृद्ध [illegible] भी कामसेवन के लिए तैयार हो जाते है, या वाजीकरण या [illegible] की औषधि का सेवन करके अतिमैथुन करते है, बार बार [illegible] तीव्र अभिलाषा पूर्ति करता है, जो उस व्रत का अति[illegible] व्रतभंग की अपेक्षा व्रतरक्षा के लिए [illegible] है। तभी वह श्रावक मर्यादित ब्रह्मचर्य का [illegible] सकेगा। [illegible] अतिचार है।

हो सकती है, लेकिन इच्छा, तृष्णा और आशा कभी बूढ़ी नहीं होती। [illegible] में उठने वाली तरंगों की तरह है। एक इच्छा पूरी नहीं होती, उससे पहले [illegible] इच्छाएँ तैयार रहती हैं। मनुष्य जब लोभ और तृष्णा के अधीन हो जाता है, उसे इच्छापूर्ति की हविस उठती है, उस समय व्यग्रमनस्क मनुष्य [illegible] जाता है कि किस-किस इच्छा की पूर्ति करूँ? अन्त में वह उसी निर्णय पर पहुँचता है कि उसे सभी इच्छाओं की पूर्ति करनी है और फलतः वह अपना सारा जीवन [illegible] की तरह अपनी इच्छाओं की पूर्ति में ही लगा देता है। जीवन समाप्त हो जाता है, लेकिन इच्छाएँ समाप्त नहीं हो पाती।

मनुष्य इच्छाओं का पुतला है। उसके व्यावहारिक जीवन में प्रतिक्षण इच्छाएँ—आकांक्षाएँ उत्पन्न होती हैं। कभी स्वास्थ्य की, कभी धन की, [illegible] प्राप्ति की, कभी स्त्री और कभी पुत्र की तो कभी यश, पद एवं प्रतिष्ठा [illegible] उदित होती है। इच्छा के विविध काल्पनिक चित्र मानस में उभरते रहते हैं। कल्पनाएँ मनुष्य के मस्तिष्क में घुड़दौड़ लगाने लगती हैं।

[illegible] मनोरंजन के क्षण में कोई व्यक्ति कलह या [illegible] के [illegible] उसमें लहरें उठने लगती हैं। कंकड़, पत्थर या मिट्टी के ढेले के [illegible] की शक्ति के अनुरूप ही तीव्र-मन्द लहरें उठा करती हैं। [illegible] के पश्चात् ज्यों ही कोई हलचल समाप्त होती है, त्यों ही उसकी [illegible] मानस में लहरें उठने लगती हैं। [illegible] कोई न कोई इच्छा तरंगों को जन्म देती [illegible] है।

[illegible]

की भोली सूरत देखकर समझ गया कि यह कोई दरिद्र ब्राह्मण है, मनमें माशा सोने की इच्छा से इतनी जल्दी उठ-बैठा होगा। इसकी आँखों में न मालूम कितने दिनों से इसे दो माशा सोने की लालसा भटका रही होगी।

राजा का हृदय दयार्द्र हो गया। उसने सहानुभूति प्रगट करते हुए कहा "विप्र! मैं तुम्हारी बात समझ गया हूँ। दो माशा सोने की क्या बात है, मैं तुम्हें वही दे दूंगा, जो तुम मागोगे! तुम्हारी जो भी इच्छा हो माग लो।"

कपिल यह सुनते ही आश्वस्त होकर सोचने लगा—"राजा ने इच्छानुसार मागने का कह दिया है, तो क्या माँगना चाहिए?" कपिल के सामने [illegible] विशाल सरोवर लहरा रहा था। इच्छा हुई कि राजा ने जब इच्छानुसार माँगने को कह दिया है तो दो माशा सोना ही क्यों मागू? सेर-दो-सेर सोना माँग लूं। [illegible] भी तो जल्दी ही समाप्त हो जाएगा, घर के खाने-पीने के खर्च में। फिर विवाह के लिए बढ़िया नये वस्त्र, सुन्दर आभूषण एवं साजसज्जा के लिए प्रभूत मात्रा में वस्तुएँ कहाँ से आएँगी? अत इच्छा होती है—एक मन सोना माँग लूँ। पर इतने से सोने के आभूषण क्या शोभा देंगे? एक महल हो, तभी धन [illegible] परन्तु महल का शाही खर्च किसी जागीर के बिना कैसे चलेगा? तो माँग लूँ एक जागीर भी। पर जागीर में क्या होगा? जब राजा ने इच्छानुसार माँगने को कहा है तो [illegible] ही क्यों न माँग लिया जाए। परन्तु एक शान्त चित्त वाले [illegible] कुछ माँग लेने का आक्रमण करके क्यों छीन लिया जाए? [illegible] [illegible] उचित होगा, ताकि सोना, महल, सोना, धन [illegible] [illegible]

उनकी पूर्ति के लिए उसे व्यग्र देखा तो वह वापस लौट गए। उन्होंने पास की भाषा में शिष्य से कहा—

देखा रे, चेला ! विन पाल सरवर।

अर्थात्—शिष्य ! आज मैं एक ऐसे सरोवर को देखकर आया हूँ, जिसका कोई ओर-छोर नहीं था।

शिष्य ने गुरु जी के मनोभाव को ताड़ कर शीघ्र उत्तर दिया—

'इच्छा गुरुजी ! विन पाल सरवर !'

अर्थात्—गुरुजी ! आपने जो बिना पाल का सरोवर देखा है, वह कोई साधारण नहीं इन्द्रा ही है। और सरोवरों के तो पाल होता है, किनारा होता है, परन्तु इन्द्रा का सरोवर ऐसा है, जिसके कहीं भी ओर-छोर नहीं होता, किनारा नहीं होता।'

अगर मनुष्य अपनी उद्दाम इच्छाओं को आवश्यकताएँ समझने की भूल न करे तो उसका जीवन इच्छापरिमाण करने से सुखपूर्वक व्यतीत हो सकता है।

श्रमणोपासक आनन्द ने भगवान महावीर के समक्ष अपनी इच्छा का परिमाण (सीमा) कर लिया। उसके पास जो कुछ भी सम्पत्ति थी, उसमें वृद्धि पर उसने स्वेच्छा से रोक लगादी। उसने अपनी इच्छा और ममता पर इस तरह नियन्त्रण कर लिया कि मैं अपने पास जो सम्पत्ति है, उससे न अधिक रखूंगा न उससे अधिक रखूंगा।

इस रूप में जब इच्छापरिमाणव्रत आनन्द श्रावक के जीवन में उतर गया स्वयं को असीम आनन्द की अनुभूति हुई।

वास्तव में जो व्यक्ति, चाहे वह सम्राट् हो या सम्पन्नतम हो, जब इच्छाएँ उसके अन्तर्मन में पैदा होती हैं, उन्हें अपनी आवश्यकताएँ समझने की भूल करता है, तब जीवन भर दुःख ही दुःख वरण कर लेता है। इसीलिए जैसे-जैसे नयी इच्छाएँ, जो तुम्हारी आवश्यकताओं के साथ समझ ली हैं, और पूर्व की आवश्यकता के भुलावे में आकर आगे बढ़ती जाती हैं, उन्हें यदि तुम रोको, उन इच्छाओं से अपने को विमुक्त कर दो। जो इच्छाएँ, तुम्हारी आवश्यकता की सीमा में हैं, उन्हें तब तक सीमित करते [illegible]

निर्धनता स्वीकार करके सादा जीवन जीने वाले भक्तों को ही परमात्मा का स्मरण हो सकता है।"

कुम्भनदास स्वेच्छा से गरीबी धारण किये हुए थे। वे इतने निर्धन थे कि एक दर्पण तक भी वे नहीं खरीद सकते थे। स्नान करने के बाद जब उन्हें की आवश्यकता होती तो किसी बर्तन में जल भर कर अपना चेहरा देख लेते।

एक दिन कुम्भनदास जलपात्र को सामने रखकर तिलक लगा रहे थे कि राजा मानसिंह उनके दर्शन हेतु आ गए। महाराजा ने अभिवादन करते हुए कहा, उत्तर में कुम्भनदास माली ने भी उन्हें बैठने का संकेत करते हुए स्वागत कहा। पर उसी हड़बड़ी में उस बर्तन का पानी फैल गया। अतः कुम्भनदास ने पुत्री से पुनः जल भर लाने का संकेत किया। राजा मानसिंह को अनुचित लगने लगी। उनको बड़ा दुःख हुआ कि एक भगवद्भक्त दर्पण के अभाव में पाए। राजा मानसिंह ने अपने एक सेवक को भेजकर स्वर्णजटित दर्पण मंगवाया भक्त को भेंट करके क्षमा माँगी। कुम्भनदास ने जब स्वर्णजटित दर्पण देखा तो दुःखी होते—न न, राजन! भगवान् के भक्त को यह अनुपयुक्त वस्तु भेजना मैं इसे स्वीकार करना तो दूर रहा, इसे प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं कर सकता। मुझे क्या चाहिए? दर्पण की, जबकि जल में ही मेरा दर्पण का काम हो जाता है। फिर फिर मन भी इस प्रकार का भोगविलासमय जीवन बिताने लगेगा तो [illegible] मेरी भक्ति समाप्त हो जायगी।"

अवकाश ही न रहे, युद्धों की विभीषिका भी सदा के लिए समाप्त हो जाए, मे सभी लोग सन्तोषपूर्वक सुखमय जीवनयापन करने लग जाएँ। परन्तु महापरिग्रही लोग अपनी इच्छा और मूर्च्छा के कारण संसार मे सुख साम्राज्य होने दें तब न ?

संसार का कोई भी ऐसा पदार्थ नही है, जो छूट न सके। मृत्यु न होने पर कई बार वे बलात् छूट जाते है। किन्तु यदि सांसारिक पदार्थों स्वेच्छा से किया जाएगा तो दुःख भी न होगा और समाज मे उस व्यक्ति भी होगी। परलोक के लिए भी श्रेयस्कर होगा। यदि व्यक्ति पदार्थों को नही छोड़ेगा तो पदार्थ एक न एक दिन देर-सवेर छूटेंगे ही लेकिन उस दशा मे हृदय को अत्यन्त दुःख होगा, प्रसन्नता न होगी। भी नही होगी।

मुझे एक रोचक दृष्टान्त याद आ रहा है, जो इस सम्बन्ध में होगा—

एक जाट था। उसका प्रतिदिन किसी न किसी विषय को पत्नी से झगड़ा हो जाता था। जब भी झगड़ा होता, जाटनी कहती—'अगर इस तरह झगड़ा करोगे तो मैं चली जाऊँगी।' जाटनी के जाट बड़ा परेशान हो जाता और मामले को ठंडा कर देता था।

जाटनी की आए दिन कलह के समय दी जाने वाली इस धमकी पर जाट ने सोचा—"अब रोज-रोज जाने को कहती है, क्यों

साधन समझेगा, साध्य नही। वह यही सोचेगा—"धन मेरे लिए व्यावहारिक [illegible] का एक साधन है, मैं धन के लिए नही हूँ। फिर क्यो इसके अधीन बनूं। [illegible] लिए समय, शक्ति या जीवन बर्बाद क्यों करूँ ?"

सज्जनो ! निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने का लाभ यही है कि आप स्वेच्छा [illegible] का त्याग करें या परिमाण करें। व्रत के स्वीकार किये बिना निर्ग्रन्थ प्रवचन [illegible] यत्किञ्चित भी भली भाँति पालन नही होता। तब तक जन्म-मरण के चक्र [illegible] कारण नही हो सकता।

इस व्रत को स्वीकार करने से पारलौकिक लाभ तो जन्म-मरण से मुक्ति [illegible] और मुक्ति पाना है। ऐहलौकिक लाभ भी कम नही है। सामने खड़ा सिंह [illegible] व्रत के धारण करने से व्यक्ति मन तरह से निर्भय, निश्चिन्त हो जाता है। [illegible] राजभय रहता है, न चोरभय, न अग्नि या अन्य किसी प्रकार का भय। [illegible] उसके प्रति भी संसार के प्राणी निर्भय एवं आश्वस्त हो जाते हैं।

सामाजिक पदार्थों का स्वेच्छा से त्याग करने वाला व्यक्ति अपनी [illegible] भी सामाजिक पदार्थों के स्वेच्छा से त्याग की एक सुन्दर परम्परा हो [illegible] उसके भावी सन्तति में भी त्याग के संस्कार रूढ़ हो जाएंगे।

करना कि मैं अमुक वस्तु इतनी संख्या, मात्रा (तौल या नाप) या इतने मूल्य (इस मूल्य के अनुसार) से अधिक की अपनी मालिकी में नहीं रखूँगा, और न इससे अधिक की इच्छा-मूर्च्छा करूँगा।

इस प्रकार नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् मर्यादा करना कि मैं अमुक पदार्थ इतने परिमाण से अधिक न तो अपने स्वामित्व में रखूँगा और न ही इतने से अधिक की इच्छा-मूर्च्छा करूँगा। यही इच्छापरिमाणव्रत या परिग्रहपरिमाणव्रत की विधि है।

इस व्रत को तीन करण (करना, कराना और अनुमोदन) तथा तीन योग (मन-वचन-काया) में से अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर सकता है। साथ ही व्रत के काल-मान की मर्यादा भी व्रतधारी अपनी इच्छानुसार कर सकता है। फिर भी जो श्रावक अपनी गृहस्थी में रहते हुए अपनी सन्तान को व्यापार-धन्धे में प्रवृत्त करने अथवा अन्य धनार्जन के कार्यों के लिए प्रेरणा देनी पड़ती है, कई बार उसका भार विवश होकर सम्भालना पड़ता है, अथवा साथ में रहने के कारण परिग्रह सम्बन्धी प्रवृत्ति को सक्रियानुमति भी देनी पड़ती है, इसलिए ऐसे श्रावक को तीन योग से परिग्रहपरिमाणव्रत स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा दो योग से तो अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए।

तोड़कर दो खेतों को एक बना लेना योजना-सापेक्ष अतिचार है। इसी प्रकार चाँदी का परिमाण अधिक हो जाने पर कुछ भाग दूसरों को रखने के लिए देना दान सापेक्ष अतिचार है। अथवा यह सोचकर कोई वस्तु अपनी मर्यादा में रख ले कि इसे बाद में दान कर देंगे या दानशाला में दे देंगे, यह भी दान सम्बन्धी अतिचार है।

अथवा अतिचार का एक रूप यह भी हो सकता है कि जो मर्यादा की है उसका विस्मरण हो जाने पर या अनजान में उस मर्यादा से अधिक पदार्थों के होने पर भी यही समझना कि जो पदार्थ मेरे अधिकार में है, वे मर्यादा में ही हैं। यह भी एक तरह से अतिचार है।

पाँच विशेष

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इस परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच विशेष बताए हैं—

अतिवाहनातिसंग्रह-विस्मय-लोभातिभारवहनानि।
परिमित-परिग्रहस्य विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते ॥६२॥

अर्थात्—अतिवाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभारवहन ये पाँच

के लिए सबसे अच्छा रास्ता महाव्रत है, किन्तु है वह अत्यन्त कठोर, बड़ा ही कठिन एवं दुष्कर मार्ग। उस मार्ग पर चलने के लिए पूर्णत्याग अपनाना पड़ता है। सामान्य व्यक्ति उस महामार्ग पर चल नहीं सकते। इसलिए भगवान महावीर ने दूसरा मार्ग बताया—आगारमार्ग—गृहस्थ श्रावक का मार्ग। उसके लिए कुछ नियम देकर आसान रास्ता बताया है।

जो लोग पूर्णता के कठोर मार्ग को नहीं अपना सकते, जिनके [illegible] वरण कषाय का क्षयोपशम नहीं हुआ, अथवा विषयोपभोग के साधनों एवं कार्यकलापों में जिनकी आसक्ति, ममता पूरी तरह से हटी नहीं है, किन्तु मन में [illegible] रूप परम ध्येय की ओर बढ़ना चाहते हैं, उनके लिए शास्त्रकारों ने पथ [illegible] विधान किया है, और उस आंशिक त्याग मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दी है। [illegible] देशविरति (आंशिक त्यागी) को भी उसी ध्येय को प्राप्त करने के लिए [illegible] बढ़ने के लिए उन्हें अकेले अणुव्रतों का सहारा पर्याप्त नहीं होता। गृहस्थ को [illegible] उनके सामने अनेक अड़चनें आकर खड़ी हो जाती हैं कि साधना उन्हें सम्भव [illegible] पाता, अथवा गृहस्थ जीवन में कई प्रलोभन एवं मोहाकर्षण आ जाते हैं [illegible] उक्त ध्येय की ओर बढ़ने ही नहीं देते। अणुव्रतों के अंगीकार करने के [illegible] गति-प्रगति वहीं ठप्प हो जाती है, वहाँ से एक कदम भी आगे बढ़ नहीं पाते। [illegible] में परिवर्तन लाने, गृहस्थ श्रावक को इन कठिनाइयों से बचाने और [illegible] गति-प्रगति में शक्ति का संचार करके आगे बढ़ाने के लिए शास्त्रकारों [illegible] [illegible] के [illegible] और [illegible] की योजना की।

मन की बात मन मे ही रह गई। न धर्म-ध्यान कर सके, न [illegible] प्रभुभजन ही कर सके।

यह है मर्यादाहीन, लोभग्रस्त जीवन की दशा!

दिशापरिमाणव्रत लोभवृत्ति और लोभवृत्ति के कारण होने [illegible] (शारीरिक एव मानसिक), असत्य, बेईमानी, चोरी, परिग्रहवृत्ति आदि [illegible] कि विस्तृत क्षेत्र मे फैले हुए थे, चाहे वे अणुव्रत के दायरे मे ही थे, मर्यादित [illegible] है। वह लोभ के बढते हुए सागर को एक गागर मे सीमित कर देता है। [illegible] सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने दिग्विरतिव्रत की महिमा बताते हुए कहा है— मनुष्य ने दिग्विरतिव्रत अगीकार कर लिया, उसने जगत् पर आक्रमण करने [illegible] अभिवृद्ध लोभरूपी समुद्र को आगे बढने मे रोक दिया।' इस व्रत के [illegible] के पश्चात् मनुष्य लोभ के कारण दूर-दूर देशो मे अधिकाधिक व्यापार [illegible] जाने मे रुक जाता है। फलत लोभ पर अकुश लग जाता है।

मनुष्य दूर-सुदूर देश-विदेशो मे मुख्यत तीन कारणो से जाता है— (१) आर्थिक धन कमाने के लोभ मे विदेशो मे व्यापार सम्बन्धी जाता है, (२) आमोद-प्रमोद करने, सैर-सपाटे के लिए, विभिन्न देशो के वैभविक दृश्यो [illegible] करने के लिए और (३) किसी आध्यात्मिक पुरुष की सेवा मे पहुचने [illegible] की दृष्टि से अध्ययन-मनन एव चिन्तन के लिए, अथवा धर्म-प्रचार [illegible] प्रचार के लिए। तीसरे कारण की दृष्टि से श्रावक के लिए देश-[illegible] कदाचित् उपयोगी हो सकता है, परन्तु अर्थ और काम (लोभ और [illegible] दृष्टि से श्रावक का देश-विदेश मे पर्यटन या गमनागमन श्रावक [illegible]

अमुक दिशा में उस स्थान से इतनी दूर से अधिक न जाऊँगा। जैसे इस प्र
मर्यादा इस प्रकार की जा सकती है—'मैं अमुक केन्द्रस्थान से पूर्व दिशा में
महल पर अथवा हवाई जहाज द्वारा या और किसी तरह से ऊपर की ओर
से अधिक दूर नहीं जाऊँगा। इसी तरह अधोदिशा की मर्यादा इस प्रकार
सकती है—मैं अमुक केन्द्र स्थान से नीचे की ओर जल, स्थल, खान
से इतनी दूर से अधिक नीचा नहीं जाऊँगा। इसी प्रकार तिर्यग्दिशा की म
समय ऐसा संकल्प करना चाहिए कि मैं पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं
आदि विदिशाओं में अमुक केन्द्र स्थान से इतनी दूर से अधिक नहीं
प्रकार की विधि से गमनागमन के क्षेत्र को सीमित करने का नाम
दिशापरिमाणव्रत कहलाता है।[1]

दिशा परिमाणव्रत स्वीकार करने वाला गमनागमन की मर्या
भी कर सकता है कि मैं अमुक दिशा में अमुक देश, प्रदेश, नगर, ग्राम
वन, पत्तन आदि से आगे नहीं जाऊँगा। अथवा इस तरह भी कर सकता
अपने मनोनीत केन्द्र स्थान से अमुक दिशा में इतने दिन, सप्ताह, पक्ष
या इतने समय में पैदल या अमुक सवारी से जितनी दूर जा सकेंगे
नहीं जाऊँगा। गमनागमन की मर्यादा कर कोस, मील, किलोमीटर
दिन, सप्ताह आदि के रूप में भी कर सकता है।

चला जाय, जहाँ उसकी दिशा की मर्यादा समाप्त हो जाती है। अब व
आभूषण ऐसी जगह पड़ा है, रखा है, जिसे व्रतधारी देख रहा है, कि मैं
वस्त्र या आभूषण को लाने के लिए नहीं जा सकता, क्योंकि उसने मर्या
है कि मैं अमुक दिशा में इतनी दूर से आगे नहीं जाऊँगा। यह वस्त्र दूसरे
वस्त्र या आभूषण जिस तरह से गया था, उसी तरह या किसी दूसरे
दित क्षेत्र में वापिस आ जाय या कोई मनुष्य, देव या पशुपक्षी स्वयं
क्षेत्र के अन्दर लाकर रख दे। ऐसी स्थिति हो तो उस वस्त्र या
व्रतधारी श्रावक ले सकता है। मगर उस मर्यादित क्षेत्र से बाहर
लाने के लिए वह जा नहीं सकता, अगर जाता है, तो उसका व्रतभंग हो
उस प्रकार वह किसी दूसरे को भी उक्त कार्य के लिए भेज नहीं सकता।
व्रत दो करण तीन योग से ग्रहण किया जाता है, प्रत्येक दिशा में गमन की
की है, उसमें आगे स्वयं गमन न करना और दूसरों को भी मर्यादित
भेजना—मन, वचन और काया से।

इस प्रकार जो परिमाण करने में आने वाली कठिनाइयों को
संक्षेप करके स्वतंत्र का त्याग करना है, उसको आत्मशक्ति और
[illegible]

का स्वीकार नही किया जाता, तब तक तृष्णा का क्षेत्र भी सीमित नहीं [illegible] सीमित न होने से तृष्णा बढती ही जाती है।

इसलिए पचम अणुव्रत मे भी दिशापरिमाणव्रत के यहा कहने [illegible] आ जाती है।

यो दिशापरिमाणव्रत पाचो अणुव्रतो मे एक विशेषता, एक [illegible] वृद्धि की प्रगति पैदा कर देता है।

दिशापरिमाणव्रत के पाच अतिचार

इस व्रत के आराधक को पाच अतिचारो से बचना चाहिए। [illegible] ने पाच अतिचारो का स्वरूप बताकर श्रावक को उनसे बचते रहने [illegible] है। गुजराती भाषा मे ये पाच अतिचार इस प्र[illegible]

2

उपभोग, परिभोग-परिमाण : एक अध्ययन

✲

मनुष्य जीवन केवल संग्रह या उपभोग के लिए ही नहीं है। उसके साथ त्याग भी अनिवार्य है। मनुष्य विवेकशील और सामाजिक प्राणी है। उसे अपने परिवार और समाज में दूसरों के लिए त्याग भी करना पड़ता है। त्याग में उसे कोई कष्ट नहीं होता वह सहज स्वाभाविक रूप से ऐसा करता है। यदि वह अपने जीवन में स्वार्थी न बन कर अपने परिवार के और अधिकाधिक व्यापक मान कर चले और उनके लिए त्याग करे, परिमित परिमाण वस्तुओं का ही उपभोग करे तो उसका जीवन भी सुखी हो सकता है और उसके साथ-साथ अनेक लोगों का जीवन भी सुखी हो सकता है।

परिभोग्य पदार्थों का परिमाण आ जाता है, जो जीवन-निर्वाह के लिए [illegible] धारण के लिए आवश्यक है।

इनमें से 'आमरणविधि' आदि कुछ बोल आपको ऐसे प्रतीत होंगे [illegible] समय में आवश्यकता से अधिक पदार्थों की मर्यादा से सम्बन्धित है [illegible] विधान त्रिकालदर्शी सर्वज्ञों द्वारा सामान्य-विशेष राजा-महाराजा से लेकर [illegible] लेकर झोंपड़ी में रहने वाले गरीब श्रमजीवी या कृषक तक को लक्ष्य में [illegible] गया है। ये बोल तो सर्व-साधारण रूप (Common) से सबके लिए [illegible] इनमें से अपनी-अपनी शक्ति, परिस्थिति, योग्यता आदि देखकर यथाशक्ति [illegible] परिभोग्य पदार्थों का त्याग या मर्यादा कर लेनी चाहिए।

शास्त्र में २६ बातों की सूची तो उसलिए बताई है कि सर्वसाधारण [illegible] लेकर राजा-महाराजा तक उस व्रत को आसानी से धारण कर सकें। शास्त्र [illegible] तो अपनी ओर से सभी बातों का संकेत कर दिया है, जिस व्यक्ति को [illegible] आवश्यकता न हो, वह उसका सर्वथा त्याग कर सकता है।

मर्यादा की मर्यादा

है। कई अन्न या खाद्य वस्तुएँ अधपकी या अधिक पकी हुई हानिकारक हो
भी अनिष्ट में समझना चाहिए।

अनुपसेव्य—जिस वस्तु का सेवन शिष्ट सम्मत नहीं है, पुनश्च है
सेव्य है। पूर्वज ऋषियों ने जिनका उपभोग वर्जनीय माना हो, वे भी
जैसे अनजाने फल, अण्डा, मांस आदि पदार्थ।

अस्वादवृत्ति एवं आहारशुद्धि भी

गृहस्थ साधक को भी अपना जीवन उत्तरोत्तर मोक्ष साधना में
न लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आहार-विहार में अस्वादवृत्ति का
साथ ही आहारशुद्धि भी रखे। उन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति साधने का
गृहस्थ हो या साधु, दोनों को आहार लेना आवश्यक होता है। परन्तु
करने से पहले उसकी शुद्धता की ओर अधिक ध्यान दे। छान्दोग्य-उप
गया है—

चूंकि अस्वादवृत्ति सप्तमव्रत लेते ही या संकल्प करते ही [illegible] होगी, उसके लिए निष्ठापूर्वक सतत प्रयत्न करना पड़ता है। [illegible] लेकर उस अस्वादवृत्ति का पालन मन-वचन-काया से मृत्युपर्यन्त [illegible] शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् समझने पर ही अस्वादवृत्ति [illegible] हो सकता है। किन्तु स्वादलोलुप लोग देह के साथ आत्मा को—[illegible] उसे अपवित्र कर देते हैं। अतः स्वादवृत्ति से मुक्त होने का एक [illegible] वैराग्य—प्रखर वैराग्य, परन्तु परमात्मभक्ति के साथ ही वैराग्य [illegible] है, यह सारा अभ्यास सप्तमव्रत के साथ साधक को करना है।

सप्तमव्रत के पाँच अतिचार : भोजन दृष्टि से

सप्तमव्रत के पूर्वोक्त २६ बोलों की मर्यादा, उसकी [illegible] पक्वकारण कसौटी तथा अस्वादवृत्ति और अनासक्ति के प्रकाश में ही सावधानीपूर्वक मर्यादा की लीक पर चलना चाहिए। यदि [illegible] आसक्ति और उच्छृंखलता को प्रश्रय दिया कि मर्यादा भंग हो जाने [illegible] महावीर ने उसीलिए श्रावक को सातवें व्रत के ५ अतिचारों (दोषों) [illegible] का निर्देश किया है, अन्यथा व्रत में मलिनता आ सकती है। [illegible] रहने के लिए भोजन सम्बन्धी इन पांच अतिचारों को जानना आवश्यक है :—(१) सचित्ताहारे (२) सचित्तप्रतिबद्धाहारे, (३) अपोलिदुप्पोलिभक्खणया (४) तुच्छौषधिभक्षणता (५) तन्दुलवैतालिक भक्षणता।

सस्पृष्ट न हो। वाहन मे बैठ कर, जूते पहने हुए बैठ कर
बैठे आहार करना भी भारतीय सस्कृति की दृष्टि से दोषपूर्ण

आचार्य समन्तभद्र ने इसमे सशोधन करके उसमें
समस्त व्रत सस्पर्शी ५ अतिचार इस प्रकार दिये है—

"विषयरूपी विष के प्रति आदर रखना, बार-बार
करना, पदार्थो के प्रति अत्यधिक लोलुपता रखना, भविष्य के
रखना, भोगो मे अत्यधिक तल्लीन होना।[१]

सचमुच ये पाँच अतिचार श्रावक को मर्यादाकृत
के प्रति भी आसक्ति, पुनः-पुनः स्मरण, अत्यधिक लोलुपता
तथा भोगो मे अधिक तल्लीनता मे डालते है। रात-दिन भोग
रहने वाला श्रावक बाह्यरूप मे व्रत ग्रहण कर लेने पर भी
श्रावक दम्भी, धर्मध्वजी और लोगो मे अविश्वसनीय हो जाता
को इस व्रत के

देश है। उसे महान् बनाने का श्रेय वहां के महान् पुरुषों को है, जो सा
और संयम से जीवन व्यतीत करते हैं।"

इसलिए निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि श्रावक को सम्पन्नता
बढ़ जाने पर भी अपनी आवश्यकताएँ न बढ़ाकर अपना रहन-सहन
पूर्ववत् सादा और साधारण कम खर्चीला रखना चाहिए।

तीसरी आवश्यकताएँ हैं—व्यसनमूलक, प्रदर्शनपूरक तथा वासना
ये तीसरे स्तर की आवश्यकताएँ न तो मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी
बल्कि वे हानिकारक, और मानव जीवन की भयानक शत्रु। ये न के
ही नष्ट कर देती, वरन् स्वास्थ्य एवं शक्ति को भी स्वाहा कर देती
आवश्यकता तो दूर की वस्तु है

और वैध है। लेकिन जब तक वह घर-गृहस्थी में है, अपने परिवार से तथा [illegible] जायदाद आदि से सम्बन्ध रखता है, तब तक अत्यन्त वृद्धत्व, असक्ति, असाध्य [illegible] असक्तिजन्य आदि विशिष्ट गाढ अनिवार्य कारणों के बिना न्यायोचित [illegible] कर भिक्षा पर या दूसरों पर आश्रित रहना कथमपि उचित नहीं है। वर्तमान युग [illegible] अर्थ-संकटापन्न समय में तो श्रावक का पराश्रित होकर जीना कथमपि उचित [illegible] है। आर्थिक दृष्टि से मनुष्य दूसरों के अधीन (गुलाम) बने, यह न तो उसके [illegible] और न ही भगवान् के उपदेशों का ऐसा आशय ही है। जबकि श्रावक को दूसरे [illegible] समान ही पांचों इन्द्रियां, मन तथा बुद्धि आदि साधन-सामग्री मिली है, [illegible] क्षमताएं मिली है, उनके पीछे यही उद्देश्य प्रतीत होता है कि मनुष्य [illegible] और आत्मकल्याण में पूरक बनकर आत्मनिर्भर बने।

कि गृहस्थ श्रावक भीख माग कर, पराश्रित रहकर अपना जीवनयापन करे, अपितु जिस व्यवसाय मे महापाप नही है। उस सात्त्विक धन्धे को करके वह अपनी आजीविका धर्मपूर्वक चलाएगा। साथ ही श्रावक के लिए जब यह बताया गया कि वह धर्मपूर्वक आजीविका करते हुए जीवनयापन करता है, तब अपने मुनि [illegible] तब अल्पारम्भ-अल्पपरिग्रह युक्त धर्ममय व्यवसाय को भी वह बेईमानी, ठगी, धोखाधडी, छीना-झपटी या अनैतिक ढग से नही करेगा।

यह बात निश्चित है कि उपभोग-परिभोग पदार्थों को पाने के लिए उसे कोई न कोई धर्मप्रधान आजीविका करनी पडेगी। परन्तु आजीविका करते हुए भी वह सकती है, जब अल्प आय मे वह सन्तुष्ट हो जाए। और अल्प आय मे वह सन्तुष्ट रह सकता है, जिसकी मूलभूत आवश्यकताएँ भी कम हो। जिस श्रावक के सर्च खर्चे-खोटे और अफलातून होगे, उसे अपनी आय बढाने के अनैतिक तरीके व्यवसाय मे पाप अपनाने पडेगे, अन्यथा उन खर्चीले शौकों की पूर्ति नही होगी। अत बढी हुई आवश्यकताओं की हालत मे श्रावक अपने लिए अल्पारम्भ-अल्पपरिग्रह युक्त आजीविका करेगा या अल्प अर्जन [illegible] वह धर्मपूर्वक आजीविका करने वाला नही कहलाएगा। [illegible] आवश्यकताएँ बढी हुई होगी, उसे उनकी पूर्ति के लिए [illegible] अनैतिक व्यवसाय भी पापपूर्ण तरीको से करना होगा। [illegible] मूलभूत आवश्यकताएँ कम [illegible] करके, सादगी का अपनी जीवनचर्या [illegible]

पन्द्रह प्रकार के निषिद्ध व्यवसाय

उसी दृष्टिकोण से शास्त्रकारों ने श्रावक के लिए सातवें व्रत में [illegible] व्यवसायों को जानकर उनका सर्वथा (तीन करण तीन योग से), त्याग [illegible] विधान किया है। ये निषिद्ध व्यवसाय **'कर्मादान'** कहलाते हैं, और उनकी [illegible] है। उन्हें सातवें व्रत के कर्म (आजीविका) विभाग सम्बन्धी १५ अतिचार [illegible] हैं। श्रावक को अपनी आजीविका का चुनाव करते समय इन १५ [illegible] सर्वथा त्याज्य समझ कर इन कर्मादान (महापाप कर्म के [illegible] व्यवसायों से सर्वथा दूर [illegible]

ठेका लेकर उन खनिज या पर्वतीय पदार्थ को बेचना और अपनी आजीविका चलाना भी स्फोटकर्म है।

शास्त्रकार के तात्पर्य से अनभिज्ञ कई लोग कृषिकर्म को भी स्फोटकर्म मानते हैं, परन्तु कृषि में जमीन फोड़ी नहीं जाती है, गोदी जाती है, तोड़ी जाती है, उसमें धमाका (स्फोट) नहीं होता है, न उसमें पंचेन्द्रिय जीवों का संहार होता है। इसलिए कृषिकर्म स्फोटकर्म नहीं है। अगर कृषिकर्म स्फोटकर्म होता तो आनन्द आदि श्रावक पांच-पांच सौ हल की खेती किस तरह करते? इसलिए यह कर्म तो तीनकरण तीन योग से निषिद्ध है।

कर्माई अत्यन्त पापपूर्ण है, निन्द्य है। कई बार ऐसी कुलटाओं के गर्भ रह जाने पर वे गर्भ गिराकर भ्रूणहत्या कर देती हैं। इसलिए यह सर्वथा त्याज्य है।

इस प्रकार ये कर्मादान रूप पन्द्रह व्यवसाय श्रावक के लिए मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याज्य हैं।[1]

जगत में इन १५ प्रकार के व्यवसायों के अतिरिक्त भी कई व्यवसाय जिनमें महापापकर्म होता है, ये १५ कर्मादान तो उदाहरण के तौर पर [illegible] कसाईखाना, शिकारखाना, द्यूतक्रीडा केन्द्र, चौर्यकर्म, तस्करकर्म, वेश्या [illegible] विषयकेन्द्र, मदिरालय, वेश्यालय आदि तो यहाँ कर्मादानरूप अतिचार [illegible] बनाए कि श्रावक जब से सम्यक्त्वी या मार्गानुसारी बनता है, तभी से [illegible] (जूआ, चोरी, मांसाहार, शिकार, मद्य, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन [illegible] मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग करता है, उसलिए इन कुव्यवसायों [illegible] करने का श्रावक के लिए प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न उठता है—[illegible] जो इन कुव्यसनों का त्याग नहीं है, श्रावक कदाचित् उस भूमिका में [illegible] इन का प्रत्यक्ष किया करने वाला व्यवसाय नहीं कर रहा है, दूसरे से [illegible] इन कर्मों में धन-साधन लगा लेकर बैठा रहता है या दलाली कर रहा है।

की लात सहन कर लेता है, किन्तु अगर कोई दूध न देने वाली गाय उसे मारे तो वह असह्य होती है, उसी प्रकार अशुभास्रवजनित दण्डरूप प्रवृत्ति त्याज्य होती है, लेकिन गृहस्थ श्रावक को अपना गृहकार्य चलाने तथा [illegible] करने के लिए कुछ प्रवृत्तियां करनी पड़ती हैं। जब दण्डरूप प्रवृत्ति [illegible] पड़ती है तो वह ऐसी ही प्रवृत्ति करे जिसमें कुछ प्रयोजन तो सिद्ध हो। [illegible] त्तियों में कुछ प्रयोजन सिद्ध होता हो, उनका दण्ड फिर भी श्रावक कर [illegible] है, वह दण्ड सार्थक है, लेकिन जिन प्रवृत्तियों में श्रावक को कोई [illegible] जिनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, उनका दण्ड निरर्थक-निष्प्रयोजन [illegible] नहीं करना चाहिए।

श्रावक ने पांच आस्रवों से जनित दण्डरूप प्रवृत्तियां पांच अणुव्रतों [illegible] बहुत-सी तो बन्द कर दी हैं, उसने चार दिशाओं में गमनागमन की [illegible] करके पांचों आस्रवों की प्रवृत्तियां क्षेत्र से सीमित कर दी हैं। अमुक [illegible] मर्यादित क्षेत्र में ही जाऊंगा। फिर सातवें व्रत के द्वारा उपभोग-परिभोग, उपभोग-परिभोग की तथा व्यवसाय की मर्यादा करके बहुत-सी प्रवृत्तियां [illegible] किन्तु फिर भी सीमा में सम्बन्धित कुछ प्रवृत्तियां तथा मन-वचन-काय [illegible] कुछ प्रवृत्तियां अभी शेष रहीं। अब देखना यह है कि उन [illegible] [illegible] ?

अनिष्ट है, प्रतिकूल है तो उसको हटाने की कल्पना में चित्त को बार-बार उ
करे तो यह मन का असंयम है, जो समत्व को नष्ट करने वाला है।

समत्व का आराधक पांचों इन्द्रियों तथा मन के अनुकूल-प्रतिकू
अमनोज्ञ वस्तु या व्यक्ति के प्रस्तुत होने पर असंयम में रमण न करते हु
होकर संयम में या आत्मस्वभाव में अन्तर्मुखी होकर रमण करता है।

सामायिक की साधना के दौरान ही नहीं, बाहर भी श्रावक को पां
पर संयम रखने का अभ्यास करना चाहिए। श्रावक को यह भली-भांति स
चाहिए कि पांचों इन्द्रियों पर असंयम का परिणाम भयंकर होता है।

पतंगा अज्ञानी है, वह प्रकाश के रूप पर मुग्ध हो आग में झांप
दे देता है, वही जल कर भस्म हो जाता है। दीपक के रूप पर मुग्ध हो
पीड़ा न सोचने वाला पतंगा आखिर पाता क्या है? खुद भी जल मरता
दीपक को भी बुझा देता है। कांटे की नोक में लगे हुए जरा-से
मछली संयम नहीं कर पाती, और अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है।
भौंरा कमल की पंखुरियों में बन्द होकर हाथी का कौरा बन जाता है।
बिचारे इन छोटे-से दोषों की उपेक्षा यदि श्रावकों जिन्दगी में
कर सकने की आपत्ति में वह पा सकता थी।

समभावी साधक किसी भी क्षेत्र विशेष को पाकर घबराता नहीं, न
वह स्वर्ग की सृष्टि कर लेता है, क्षुद्र प्रकृति के लोगों के बीच रहते हुए भी व
समता नहीं खोता, अगर उसे ऐसे क्षेत्र में रहने का काम पड़ता है, जहाँ

—यदि कोई मेरे विषय में शुभ या अशुभ नाम या शब्दों का प्रयोग
उसमें मोहवश रति या द्वेषवश अरति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि
लक्षण या स्वरूप नहीं है।—(नाममामायिक)

यदिद स्मरयत्यन्यो न तदध्यस्मि किं पुनः।
इदं तदस्या मुस्थेति मौर मुस्थेति वा न मे ॥२३॥

—यह जो सामने वाली मूर्ति (प्रतिमा) अर्हन्तादि रूप का स्मरण
मैं उस मूर्तिरूप नहीं हूँ, क्योंकि मेरा सामानुभव न तो मूर्ति में
और न उसके विपरीत है। (स्थापनासामायिक)

सामसमज—तद्देही तद्विपक्षी च साक्षी।
तादृशी स्तां परद्रव्ये को मे रागद्वेषयोः ॥२४॥

—सामायिकसाम्यज्ञाता अनुपयुक्त आत्मा और उसका मृत
(सामम—नो आगम—भावि नोआगम—तद्व्यतिरिक्त आदि)
इन शुभ या अशुभ रूप, रूपों से, मुझे इनसे क्या ? क्योंकि ये पर
मुझे स्वद्रव्य का तरह कैसे अभिनिवेश हो सकता है ? (द्रव्यसामा

राजसारीरि नो पीरे, नारणपानीति चोदिते।
स्वाहि स्वयोऽस्मरणे वा नात्मारामस्य कोपि न ॥२५॥

[illegible] प्रेम हो, घर अरण्य है, [illegible]
[illegible] मेरा स्वभाव समान ही आत्मारूप है। [illegible]

शोक, अशान्ति, संघर्ष और संक्लेश भी आ सकता है। कोई भी जीव [illegible] सकता। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आते ही रहते हैं। सुख [illegible] क्या है? परिस्थितियों का परिवर्तनमात्र ही है। यदि कोई इतना [illegible] हो कि उसके जीवन में किसी प्रकार का दुःख, अभाव या संघर्ष [illegible] अवसर न मिले, तो वह निरन्तर अनुकूल परिस्थितियों में रहकर [illegible] लिए पश्चिम के समृद्ध देशों की तरह एकरस सुख ही दुःख का [illegible] वह एकरसता से थक जाएगा। अप्रिय नीरसता उसे घेर लेगी। [illegible] सुख का आवागमन चलता रहता है। जो सुखी है, उसे दुःख [illegible] करना होगा, और जो दुःखी है, उसे भी कभी न कभी किसी न किसी [illegible] की शीतलता को अनुभव करने का अवसर मिलेगा ही।

वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाए तो ये अनुकूल-प्रतिकूल [illegible] भी सुख-दुःख का वास्तविक हेतु नहीं है। वास्तविक हेतु तो [illegible] स्थिति ही है, जो किसी परिस्थिति विशेष में सुख-दुःख का आरोपण [illegible] है। सामाजिक [illegible] अमुक परिस्थिति किसी समय [illegible] लगता है, तथा किसी समय वही या दूसरी उसी प्रकार की परिस्थिति [illegible] ऐसा नहीं होता। यदि सुख-दुःख का निवास किसी परिस्थिति [illegible] मनुष्य को हर बार सुखी या दुःखी ही होना [illegible] सुख-दुःख की अनुभूति का परिवर्तन क्यों? [illegible] मनोऽनुभूति [illegible]

[illegible]

देखते ही तड़फता नही। क्योंकि वह जानता है कि यह मानसिक हीनता [illegible] है। मानसिक दृष्टि से दुर्बल मनुष्य ससार मे कुछ भी करने लायक नही [illegible] सघर्षों, मुसीबतो एव आपत्तियों मे डरता है, उनके आने पर निराश या [illegible] हो जाता है, वह कोई बडा काम करना तो दूर, साधारण मनुष्यों की तरह [illegible] जीवनयापन भी नही कर सकता। जिसका हृदय बात-बात मे विषाद से भर [illegible] जाता है, चिन्ताओं और निराशाओं से अभिभूत हो जाता है, उसका जीना [illegible] माना जाता। जिसमे आपत्तियों से सघर्ष करने की हिम्मत नहीं, कठिनाइयों [illegible] का साहस नही, उच्च आदर्श के साथ जीने की उत्साहपूर्ण सक्रियता नहीं [illegible] पर ही नही, अपने पर भी बोझ बना हुआ श्वासों का भार ढोता रहता है। [illegible] और निराश व्यक्ति की मन स्थिति किसी पुरुषार्थ के योग्य नही रहती। उस [illegible] वृक्ष के मूल मे दीमक लग चुकी है।

सामायिक साधक यही समझता है कि दुःख, कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ [illegible] समभाव की परीक्षा लेने आती है। वे आते ही हमारी मानसिक प्रसन्नता [illegible] या हमारे उत्साह पर आवरण डाल कर हमारे समक्ष एक कठिन प्रश्न प्रस्तुत [illegible] कि अब कैसे समता रख सकोगे? यदि हमने उन कठिनाइयों आदि [illegible] मानस-क्षितिज पर छाने दिया तो हमारे मनोमन्दिर मे अन्धकार [illegible] निराशा, क्षोभ, दुःख, भय एव असन्तोष की अनेक [illegible] हम अकारण ही पीड़ित रहने लगेंगे। [illegible]

भी व्यग्र अथवा दुःखी नही होता। सामायिक का साधक यही सोचता है [illegible] संसार मे हजारो-लाखो ऐसे व्यक्ति होगे, जिन्हे सामान्यतः आर्थिक कष्ट [illegible] मुश्किल से रूखी-सूखी रोटी मिल पाती है, फिर भी वे सन्तुष्ट तथा प्रसन्न [illegible] है। अपने आर्थिक कष्ट का रोना रोना या भाग्य को कोसना उन्हे [illegible] इसके विपरीत असंख्य लोग ऐसे भी मिलते है, जो रात-दिन अपने अभाव [illegible] रोते और दुर्भाग्य को कोसते रहते है। कई लोग ऐसे भी है, जिनके [illegible] अधिक साधन सुविधाएँ है, किन्तु वे उक्त अभावग्रस्त व्यक्ति से भी [illegible] एवं दुःखी प्रतीत होते है। अतः सुख का निवास सतोषी एवं समता [illegible] प्राप्ति उपलब्धियो मे नही। कितने ही मनुष्यो का स्वभाव होता है [illegible] परिस्थितियो मे असन्तुष्ट रहते है। उनका वर्तमान कितना ही अनुकूल [illegible] असन्तोष या खिन्नता का कोई न कोई कारण निकाल ही लिया करते [illegible] [illegible] वर्तमान मे असन्तोष का कारण सोचा करते है कि वे [illegible] मे बहुत अधिक प्रसन्न एवं सुखी थे। जबकि वास्तव मे ऐसा [illegible] उनका अतीत जब वर्तमान था, तब भी वे आज की तरह असन्तुष्ट [illegible] [illegible] सुखी एवं प्रसन्न रहने का एक ही उपाय है कि अपनी वर्तमान [illegible] [illegible] सन्तुष्ट रहा जाए।

कभी कभी दूसरो को अपने से अधिक [illegible] [illegible] उस सम्पन्न व्यक्ति से अपनी स्थिति की तुलना करके [illegible] [illegible] है। हमारे पास तो एक छोटा सा मकान है। दूसरा [illegible] [illegible] अपनी स्थिति को [illegible] [illegible] और उसकी सारी सुख-शान्ति [illegible] [illegible] दूसरो को सम्पन्न स्थिति देखकर [illegible] [illegible] की ओर [illegible]

[illegible]

परिस्थितियों को क्षणिक समझकर सम रहता है। प्रशंसा सुनकर हर्षोन्मत्त नहीं होता निन्दा सुनकर तिलमिलाता नहीं।

सम्मान और अपमान में सम—इसी प्रकार सामायिक के साधक को सम्मान मिलता हो, चाहे अपमान के कड़वे घूंट पीने पड़ते हों, दोनों अवस्थाओं में समत्व का त्याग नहीं करता। वह उन दोनों अवस्थाओं को क्षणिक समझकर सम रहते हैं, मन में विकार या वैषम्य नहीं आने देते।

समत्वसाधक—चार शुभ भावनाएँ

सामायिक के लक्षणों के अन्तर्गत शुभभावनाएँ भी समत्व की साधना में [illegible] हैं। सामायिक का साधक जब आर्तध्यान और रौद्रध्यान से दूर रहेगा तो इसके [illegible] है कि उसका मनमस्तिष्क खाली नहीं रह सकता। उसका मनमस्तिष्क खाली [illegible] तो पुनः बुरे न बुरे खुराफात मचाएगा। अतः समत्व की साधना को पुष्ट [illegible] के लिए आत्मौपम्य की भावना से ओतप्रोत होकर चार भावनाएँ आती हैं। [illegible] ऐसी भावनाएँ समत्वसाधक के हृदय को विशाल बनाकर विश्वप्रेम से [illegible] देती हैं। वे चार मानी गई हैं—मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ।

मनोविज्ञान का यह माना हुआ तथ्य है कि मनुष्य अपने मन में [illegible] की कल्पना सजोता रहता है वह अन्त में वैसा ही बन जाता है। एक पहलवान [illegible] अपने-अपने ढंग से शारीरिक श्रम किया करते हैं, परन्तु [illegible] में अन्तर आता, दोनों भिन्नाएँ दोनों जगह समान रूप से होती [illegible] जाता है और मजदूर क्षीण। यह अन्तर सिर्फ [illegible] मन में [illegible] समत्व नहीं आता रहता है कि [illegible] है, तब [illegible] है। [illegible] भावना [illegible]

सुहाती। परन्तु कुछ लोग भौरो के समान रुचि वाले होते है, जो गुणों में ही ढूंढते है, दोषो की ओर उनकी दृष्टि जाती ही नही।

जिन्हे दूसरो के गुणो को देखकर आल्हाद उत्पन्न होता है, उनकी [illegible] वृत्ति को शास्त्रीय भाषा मे **प्रमोद (मुदिता)** भावना कहते है। यह भावना [illegible] है तो साधक मे छिद्रान्वेषण या दूसरे के गुणो मे दोष निकालने की वृत्ति नही [illegible] जो छिद्रान्वेषी या परदोषदर्शी होते है, वे हमेशा शकाशील, वहमी एव [illegible] है। उन्हे दुनिया बुराइयो से भरी, दुष्ट, दुर्जन और शत्रुतापूर्ण दिखाई देती है। [illegible] पर आई हुई विपत्ति या दुख का सारा दोष वे दूसरो पर मढ देते है। [illegible] अपनी शुद्धता के कारण सबके बुरे, अभिन्न, अनादरणीय एवं घृणा करने [illegible] कहते है, ससार मे कोई उनका मित्र नही बनना चाहता, कोई उन्हे सम्मान देना [illegible] चाहता। उनके विपरीत जिन्हे दूसरो मे गुण देखने की आदत है, वे गुरु [illegible] साहस, पुरुषार्थ, चातुर्य या कार्य-कुशलता आदि गुण देखते है तो मन [illegible] उनकी उन विशेषताओ की प्रशसा करते है। बुराइयो का परिशोधन [illegible] प्रेम से, मधुर शब्दो में उस व्यक्ति के सद्गुणो की प्रशसा के साथ [illegible] बुरे आदमी को भी अपशब्द नही, वह चिढता नही, क्योकि प्रमोद [illegible] सस्कार डालता है कि किसी को चिढाकर, अपमानित करके या [illegible] खडा-खडा कर लोगो के सामने उछालने से या उसकी निन्दा करने से [illegible] नही हो सकता। इसीलिए सामायिक-साधक प्रमोद भावना के द्वारा [illegible] करता है गुणियो को अपना बनाकर उनसे कुछ न कुछ सीखता है, परन्तु [illegible] तथा अवगुणी व्यक्तियो को भी प्रेम से सुधार कर अपने [illegible] सेवा से उसके मन मस्तिष्क मे गुण [illegible]

[illegible]

3

सामायिकव्रत : विधि, शुद्धि और सावधानी

✲

सामायिक एक आध्यात्मिक साधना है। इस कोई भौतिक [illegible]
इसमें बाह्य वैभव, आडम्बर या प्रदर्शन किया जाय। भौतिक साधन
यद्यपि उपलब्ध नहीं मिलता, उसके लिए भी कोई विशेषपूर्वक प्रतीक्षा नहीं
तब सामायिक जैसी आध्यात्मिक साधना के लिए कितनी साधारी तैयारी
प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, यह आप सहज ही समझ सकते हैं। यदि
सामायिक जैसी विशुद्ध एवं जीवनशोधी साधना की विधि को ठीक
बनाएँ हैं, साथ उसके परिपालन-समाप्त के लिए क्यों तक विस्तृत विवेचन
साधक को सावधानी करनी चाहिए।

[illegible] सामायिक को शास्त्रकारों ने मोक्षप्राप्ति [illegible]
[illegible] का साधन एवं अनिवार्य बताया है, जिस सामायिक
[illegible] साधक को [illegible] के लिए [illegible]
[illegible] मुख्य रूप से चतुर्दशी, अष्टमी आदि के [illegible]
[illegible] सामायिक [illegible] है।
[illegible] सामायिक [illegible]
[illegible] सामायिक [illegible]
[illegible] को सामायिक [illegible]

साधक जब-तब हिंसा, झूठ, चोरी आदि करने वाले या हिंसा, चोरी, झूठ आदि की घटनाओं के लिए प्रशंसात्मक उद्गार निकालेगा—"बहुत अच्छा, वाह-वाह बहुत मजेदार घटना घटी।" अथवा उन कार्यों का समर्थन करना, ऐसा होना तो अच्छा ही है। अथवा मन से ऐसे कार्यों को अच्छा मान कर मन प्रसन्न होगा। किसी को लुटते-पिटते देखकर कहेगा—'अच्छा हुआ इसका माल ले गए तो!" ऐसी दशा में सामायिक का महत्त्व क्या रहा? ऐसी सामायिक सावद्य कार्यों के अनुमोदन से युक्त होगी, एक प्रकार का दोषयुक्त कार्य कहा जाएगा।

उसके समाधान में शास्त्रीय दृष्टि यह है कि सामायिक में अनुमोदन न करना है, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि सामायिक की साधना में बैठा हुआ सावद्य प्रवृत्तियों का समर्थन, अनुमोदन या प्रशंसा करे। नहीं, सामायिक में किसी प्रकार की पापयुक्त प्रवृत्ति, घटना या पापकर्मपरायण व्यक्ति की अनुमोदना का अतिनिष्ठ भाव भी मन में नहीं लाना चाहिए। सामायिक में तो किसी भी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति न तो स्वयं करनी है, न दूसरे से और न ही करने वालों का या वैसी सावद्य घटना का अनुमोदन-प्रशंसा करना है। सामायिक तो आत्म-विकास की अध्यात्म साधना के माध्यम से, आत्मा के करने और आत्मगुणों की पुष्टि करने की साधना है, उसमें तो उसे पापमय [illegible] पापकर्म-प्रवृत्तियों को तुच्छ या हानिकारक मानकर [illegible] करना है। [illegible] अनुमोदन न करना है, उसके पीछे भी भावना [illegible] सामायिक में पापों का पूर्ण त्याग नहीं है। [illegible] मन से थोड़े कार्यों का [illegible]

नियमं एक मुहूर्त बोलना, दो सामायिक लेना हो तो दो मुहूर्त। [illegible] सामायिक एक साथ ग्रहण करना हो, उतने मुहूर्त बोलें। तत्पश्चात [illegible] के लिए एक मुहूर्त यानी दो घड़ी तक समस्त सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करके [illegible]रिक झंझटों से पृथक होकर रहे। सामायिक में अपनी योग्यता के अनुसार [illegible] जप, चिन्तन, ध्यान, धर्मकथा आदि करना, अगर कोई साधु-साध्वी [illegible] तो उनका प्रवचन सुनना एवं धर्मचर्चा करनी चाहिए।

सामायिक में स्वाध्याय या पठन-पाठन अथवा चिन्तन-मनन [illegible] हो, जो समभाव की वृद्धि करे, आत्मिक विकास की प्रेरणा दे। सामायिक [illegible] साहित्य या अर्थ का मनोरंजन करने वाला साहित्य न पढ़े, न सुने। [illegible] किसी सामाजिक या घरेलू प्रपंचों या झगड़ों की चर्चा-वार्ता न करे। [illegible] तो प्रपंचमय या कलहमय बन जाएगी।

सामायिक का समय पूरा हो जाने पर सामायिक पारे। [illegible] पार लें।

सामायिक ग्रहण करने और पारने की [illegible]

सामायिक ग्रहण करते समय नमस्कार मंत्र [illegible] तीन बार, [illegible] वन्दना करे [illegible]

[illegible]

होता है, तब सामायिक जैसी महत्वपूर्ण साधना के लिए समय निश्चित न हो नहीं सकता। श्रावक को इतना अभ्यस्त हो जाना चाहिए कि वह अन्य कार्यों को छोड़कर सामायिक जैसी आवश्यक धर्मक्रिया करे। किन्तु वर्तमान में सामायिक के समय के सम्बन्ध में बहुत अनियमितता चलती है। कभी कुछ कभी दोपहर को आसन लगा कर सामायिक में जम गए, कभी शाम को ग्रहण करली। समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं।

सामायिक के लिए सबसे अच्छा समय प्रभातकाल ही हो सकता है, उस समय प्रकृति बड़ी ही रमणीय, शान्त और मधुर होती है, न अधिक सर्दी, न गर्मी, ऐसे समय में, जबकि प्रायः लोग दैनिक कर्म में प्रवृत्त नहीं होते हैं साधक का मन समता एवं धर्मजागरण के विचारों में तन्मय हो सकता है। प्रभात का समय जप, ध्यान एवं आत्मचिन्तन के लिए भी उत्तम माना जाता है। स्वभावतः प्रभातकाल शान्ति और प्रसन्नता का प्रतीक है। का वातावरण शुद्ध विचारों से परिपूर्ण रहता है। अतः सामायिक जैसे के लिए प्रभातकाल बहुत ही उपयुक्त है। अगर प्रभातकाल में न हो सके तो का समय भी कई आशा में दूसरे समयों के बजाय शान्त समझा जाता है भी सामायिक-साधना की जा सकती है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसका निरूपण किया है।[1]

दूसरा प्रश्न है- सामायिक किस समय तक करनी चाहिए?

बोल सकता है। पर चुपचाप बैठा रहने वाला क्या करेगा ? एक दिन जो [illegible] भ्रष्ट तपस्वी था, वही मरीचि तपस्वी कुछ जन्मों के पश्चात् भगवान ऋषभ के रूप में हिमाचल-सा अचल-अटल महान साधक बन जाता है। अतः सामायिक की क्रिया को कठिन समझकर साहसहीन न बनो, अभ्यास करते जाओ, एक दिन आपको ही सफलता आपके चरण चूमेगी।

सामायिक की प्रतिज्ञा का पाठ : विश्लेषण

समभाव प्राप्त करने के लिए अभ्यास रूप जो क्रिया की जाती है [illegible] नाम सामायिक है। यही व्याख्या सामायिक की प्रतिज्ञा (संकल्प) करने से [illegible] ध्वनित होती है। श्रावक के लिए सामायिक का प्रतिज्ञा-पाठ इस प्रकार है—

"करेमि भंते ! सामाइयं, सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव नियम पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

अर्थात्—(सामायिक ग्रहणकर्ता कहता है) हे भगवन् ! आपकी साक्षी से मैं सामायिक करता हूँ (कैसी सामायिक ?) सावद्य (पाप युक्त) व्यापार का [illegible] त्याग करता हूँ। (कब तक के लिए ?) जब तक मैं नियम की उपासना [illegible] करूँ (कितने करण योग से ?) दो करण और तीन योग से, मन से, वचन से और [illegible] काया से न करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा। [illegible] भूतकाल में जो भी सावद्य कार्य किए हों, उन सबका प्रतिक्रमण करता [illegible] हूँ, उनकी निन्दा (पश्चात्ताप) करता हूँ, आपकी साक्षी से गर्हा [illegible] करता हूँ (अर्थात् अपना करता हूँ) तथा पापकारी आत्मा का [illegible] व्युत्सर्ग, दूरपरित्याग से अपनी आत्मा को [illegible]

आत्म व्युत्सर्जन है। अतीतकाल की सावद्ययोगकारी अप्रशस्त आत्मा का व्यु[illegible] हूँ, यही इस पद का तात्पर्य है।

त्रियोग शुद्धि की विधि

सामायिक के पवित्र सिंहासन पर पहुँचने से पहले म[illegible] वचन और काया की शुद्धि कर लेनी आवश्यक है।

मन शुद्धि के लिए मन को सांसारिक वासनाओं से रिक्त [illegible]। पूर्वकालिक दुष्ट संस्कारों, दुर्विचारों, दुष्कामनाओं, आसक्तियों [illegible] [illegible]-लोभ-मोहजन्य विकारों का त्याग किये बिना मन में सुन्दर [illegible] सुसंस्कारों का प्रवेश नहीं हो सकेगा।

मन का कार्य है—मनन करना। मनन दो प्रकार का [illegible] [illegible], दूसरा तर्कपूर्ण। कल्पनापूर्ण मनन जिस समय होता है, [illegible] [illegible] अनियन्त्रित [illegible] [illegible] आदि की कल्पना [illegible] नगता है। [illegible] [illegible] मलिन [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] ध्यान, चिन्तन आदि आवश्यक है।

[illegible]

यहाँ गए हैं।' सेठ ने जब सुना तो मन ही मन क्रुद्ध हो उठा। ज्योंही सामायिक पूर्ण हुई, त्यों ही सेठ ने पुत्रवधू को आड़े हाथों लिया तो उसने सविनय कहा—"पिताजी! आपका मन तो मोचीबाजार में घूम रहा था, सामायिक में न था। मैंने तो आगन्तुक को सच-सच कह दिया था।" पुत्रवधू का उत्तर सुनकर श्रावक ने अपनी भूल स्वीकार कर ली। भविष्य में सावधान रहने का वचन दिया। दूसरे दिन फिर वही साई सेठजी को पूछने आया तो पुत्रवधू ने कहा—"अभी वे सामायिक में हैं।" सचमुच श्रावक का मन सामायिक में था।

इस प्रकार सामायिक में मन की एकाग्रता को भंग करने वाले दोषों से बचना चाहिए।

वचनदुष्प्रणिधान का अर्थ है—सामायिक के दौरान बहु, गंभीर या असभ्य अशब्द बोलना।

कायादुष्प्रणिधान का तात्पर्य है—सामायिक में काया को यत्र-तत्र इधर-उधर चलाना, काया से कुचेष्टा करना, अकारण शरीर को हिलाते-डुलाते रहना।

सामायिकस्मृत्यकरण का अर्थ है—सामायिक ग्रहण की है या नहीं है—इसका या सामायिक करना ही भूल जाना।

[illegible] है—**सामायिकानवस्थिति**। सामायिक को [illegible] पूर्वक करना, सामायिक का समय पूरा होने से पहले [illegible] बार-बार घड़ी देखना या विचार करना कि समय [illegible] विचार का तात्पर्य है।

[illegible] दूर रखकर शुद्ध सामायिक [illegible] सामायिक में [illegible] सामायिक में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सामायिक की [illegible]

करता है, तो वह चीज मन में संस्कारों के रूप में जम जाती है, वह उस व्यक्ति के जीवन का एक अंग बन जाती है। और यह भी देखा जाता है कि मनुष्य अपने जिस का लक्ष्य निश्चित करके जिस ओर अधिक झुकता है, जिस चीज का बार बार चिन्तन करता है, जिस साधना का संकल्प करके उसे क्रियान्वित करता है, वह उसके साधन बन जाती है, आदतें ही धीरे-धीरे उसके स्वभाव में परिणत हो जाती हैं। वह स्वभाव ही जीवन के ताने-बाने की तरह संस्कारों में गुम्फित जाता है। इस प्रकार संकल्प, आदत, स्वभाव और संस्कार के रूप में मानव जीवन को ओत-प्रोत कर जाने में देशावकाशिकव्रत बहुत ही सहायक बनता है।

आंशिक अवकाश के रूप में देशावकाशिक

देशावकाशिक व्रत साधना की अपेक्षा रखता है। इस साधना में साधक अपने शरीर और शरीर सम्बन्धी कार्यों (व्यापार, नौकरी, शरीर श्रृंगार, [illegible] सामाजिक, विलासिता, इन्द्रिय विषयों की भोगासक्ति आदि दैनिक कृत्यों) से कुछ (या काफी) समय पड़ता है। देश शब्द अंश अर्थ का वाचक है, और अवकाश का [illegible] रूप में पर्याय 'छुट्टी' शब्द भी वाचक है। इस प्रकार दोनों शब्दों को मिलाने [illegible] यह अभिप्राय हुआ कि शरीर सम्बन्धित कार्यों में आंशिक (एक दिन रात की, [illegible] पौषध घर या उपाश्रय की, अथवा एक घंटा या उससे ज्यादा की) छुट्टी [illegible] [illegible], सामायिक के समय, स्वाध्यायकाल, स्वरूपचिन्तन आदि में आंशिक [illegible] [illegible] में अवकाश होता देशावकाशिक व्रत है।

[illegible] का अवकाश मानोगे या आत्मसाधना का ?

[illegible]

समय के लिए अगर कोई श्रावक पांच आस्रव का त्याग करता है तो उस त्याग
गणना उस अल्पावकाशरूप संवर (देशावकाशव्रत) में ही होगी। जब कभी संवर
अवकाश न हो, उसे दूसरे किसी अनिवार्य कार्यवश कहीं जाना है, परन्तु निर्दि
के रूप में यत्किञ्चित् समय तो निकालना ही है, तब किन्हीं कारणवश सामा
करने का अवसर न हो, तब यत्किञ्चित् समय के लिए स्वेच्छा से समय नियत
उतनी देर के लिए पाँच आस्रवों से निवृत्त होने के रूप में जो संवर किया जाए
उसे भी देशावकाशिक कहते हैं। जैसे स्कूलों या सरकारी दफ्तरों में बीच में घण्
पौन घंटे की छुट्टी होती है, उसी प्रकार की यह आध्यात्मिक जीवन के लिए कुछ
समय (अवकाश) तक की छुट्टी है। उस थोड़े-से नियत समय के लिए पांच आस्र
की छुट्टी दे दी जाती है, उनका स्मरण, चिन्तन, उच्चारण या व्यवहार नहीं
किया जाता।

श्रीमद् राजचन्द्रजी एक आध्यात्मिक पुरुष थे। वे जवाहरात का
व्यापार करते थे। वे जब अपनी दूकान पर बैठते थे, तब इस प्रकार का संवर (
साधित) किया करते थे। उस दौरान वे आत्मिक चिन्तन किया करते थे। ग्राहक
व्यापार की उसे माल दिखाते, बातचीत करते, माल देते, लेकिन ग्राहक
चले जाने-जाने सौदा होने, अवकाश मिलता पुनः आत्म-चिन्तन में
लिए वे पहिले मुहूर्त का संवर-पच्चक्खाण करते, अथवा जप किया करते।

इसी प्रकार संवर के रूप में देशावकाशिकव्रत ग्रहण करने
के लिए घर-बार छोड़कर पौषधशाला में आने की आवश्यकता नहीं रहती, और
व्यापार-धंधा या नौकरी आदि जीवन के आवश्यक
(संवर) करके घर पर रहते हुए भी
कर, जाप कर या स्वाध्याय
इसी तरह विवाह-शादी, सगाई और

मे स्वदारविषयक जो मर्यादा रखी गई है, उसे भी घटाना, पहले, दूसरे और
अणुव्रत मे रखी हुई सूक्ष्म हिंसा, सूक्ष्म असत्य, सूक्ष्म चोरी की छूट का भी
दिन-रात के लिए सर्वथा त्याग करना, तथा पाँचवें और सातवें व्रत मे
मर्यादा को और घटाना। इस प्रकार व्रतग्रहण के समय जो-जो मर्यादा
है, उस मर्यादा को एक दिन-रात के लिए न्यूनतम कर डालना ही देशावका
व्रत है।

विवेकी श्रावक प्रतिदिन इस बात का मनोरथ करे कि 'मेरी आत्मा मे
शक्ति पैदा हो जाय कि मै आरम्भ-परिग्रह का सर्वथा त्याग कर दूँ, निर्ग्रन्थ
बनूँ। परन्तु जब तक उतनी शक्ति प्रगट न हो, तब तक कम से कम एक
के लिए न्यूनतम आवश्यकताओं से अपना काम चला कर आत्मा की
शक्ति बढाने मे अधिक समय दूँ। गृहस्थाश्रम मे रहता हुआ भी त्याग मार्ग
इस भावना के अनुसार श्रावक ने व्रतग्रहण के समय जो मर्यादा (अवधि)
उसे संक्षिप्त करना (घटाना) है।

१४ नियमों के अनुसार चिन्तन करके जो मर्यादा करता है, और
करता पालन करता है, वह सहज ही आत्मशक्ति रूप महाधन को
लेता है।

[illegible] नियमों के चिन्तन का क्रम इस प्रकार बताया है

सचित्त-दव्व विगई वाणह-तंबूल वत्थ कुसुमेसु।
वाहण सयण विलेवण-बंभ दिसि-ण्हाण भत्तेसु॥

ही भगवान् महावीर ने गृहस्थ श्रावक के आध्यात्मिक विकास के लिए सामयिक एवं देशावकाशिक की तरह पौषधोपवासव्रत का विधान किया। वस्तुतः पौषधोपवास की साधना में शारीरिक प्रपंच से बिलकुल निश्चिन्त, आजीविका के क्षेत्र से भी विमुक्त होकर एकमात्र आत्मा की उपासना में ही गृहस्थ साधक एक रात-दिन बिताता है। इसलिए उसका आध्यात्मिक उत्कर्ष से सीधा सम्बन्ध है। इस साधना से गृहस्थ जीवन के अन्तःप्रदेश का ऐसा शोधन, परिष्कार एवं अभिवर्धन होता है, जिससे उसके सर्वतोमुखी आत्मिक उन्नति का द्वार खुल जाता है, जो विघ्नबाधाएँ आत्मिक प्रगति का मार्ग रोके खड़ी रहती हैं, उन्हें स्वयं साधक इस व्रत में पुरुषार्थ से आगे बढ़ कर हटा सकता है।

मनुष्य, विशेषतः सम्यग्दर्शनसम्पन्न व्रतधारी श्रावक वीतराग परमात्मा का लघुपुत्र है। वह अपने अन्दर अनन्त शक्तियों की सम्भवता को छिपाए हुए है। अनन्त आध्यात्मिक सम्पदाएँ उसमें सुप्त हैं। उसका दीन-हीन और निर्बल होकर आत्मविस्मरण करना उचित नहीं। पौषध में अपने वास्तविक स्वरूप के चिन्तन में साधक अपने आपको वीतराग परमात्मा का उत्तराधिकारी समझे।

सके। उस प्रकार आत्मनिरीक्षण करते समय अपने दोषों, त्रुटियों, बुरी आदतों, गलतियों या अपराधों को ढूंढने में उनका उत्साह नहीं होता, न ही उन्हें वे ढूंढ पाती हैं और न ही वे उन्हें छोड़ने को उत्साहित होते हैं। जैसे अपनी आँख में हुआ काजल स्वयं को नहीं दिखाई देता, वैसे अपनी बुराइयाँ भी उन बुराइयों को नहीं सूझती। अधिकांश मनुष्यों की मानसिक रचना ही ऐसी होती है कि वे बात में अपने आपको निर्दोष मानते हैं। उन्हें कोई दूसरा व्यक्ति उनकी गलती बता दे तो भी उनका मन उसे स्वीकार करने को प्रायः तैयार नहीं होता। प्रायः हर व्यक्ति दूसरे के दोष ढूंढने में बड़ा चतुर और सूक्ष्मदर्शी होता है। उसकी तीक्ष्ण दृष्टि और रचना शक्ति देखते ही बनती है। पर जब अपना नम्बर आता है तो वह सारी तर्क समस्त आलोचना शक्ति न जाने कहाँ छूमंतर हो जाती है। जैसे मोटा व्यापारी तौलने के बांट तौल में बड़े-छोटे बना कर अलग-अलग रखता है, और सौदा समय बड़े बाँटों को तथा बेचने के समय छोटे बाटों को काम में लाता है, वैसे ही दूसरों की बुराइयाँ ढूंढने में हमारी दृष्टि अलग तरीके से और अपनी बुराइयों को तरीके से काम करती है। यदि व्यक्ति अपने पर पराया देख पाने की दूसरों की बुराइयाँ खोजने के बजाय अपनी बुराइयाँ देखने लग जाएँ तो चिन्ता करने की तरह यदि अपने सुधारने की चिन्ता करने लगे, तो [illegible] को मिटा दें। भगवान के महाराणा स्वरूपसिंहजी के साथ सामी की [illegible] के [illegible] भाग में साधक को बहुत ही अनुकूल परामर्श दिया

करना चाहिए शास्त्र में 'अप्पसम मन्निज्ज छप्पिकाए' (अपनी आत्मा के समान ही काया—समस्त प्राणीमात्र को माने) का रहस्य भी यही है।

बुढापे में धर्माचरण की बात अनिश्चित

यही बात भगवान महावीर कहते हैं कि श्रावक को पर्वतिथियों में झटपट एवं शरीर सम्बन्धी भोगोपभोगों से बिलकुल निवृत्त होकर दो तीन दिन-रातभर पौषधोपवास करके अपनी आत्मसाधना में अधिकाधिक समय लगाना चाहिए, आत्मसाधना-आत्मालोचना का अभ्यास अभी से जागना चाहिए, अन्यथा बुढापा आकर घेर लेगा, इन्द्रियाँ क्षीण हो जाएँगी, अनेक व्याधियाँ आ जाएँगी, दुनियादारी एवं दूसरों की पंचायत छोड़कर आत्मधर्म की आराधना करने में कुछ परन्तु तब कुछ नहीं हो सकेगा। दशवैकालिक सूत्र में भगवान महावीर का यही उपदेश निहित है—

'जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥'

—'जब तक बुढापा आकर पीड़ित नहीं करता, जब तक रोग-व्याधि नहीं बढ़ती, जब तक तुम्हारी इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होतीं, तब तक तुम्हें धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।'

लेना था और उसमें अपना और परिवार का गुजारा चला लेता था। [illegible] कारण वह प्राय एक सन्त के दर्शन और सत्संग में जाया करता था। [illegible] वह व्रत उपवास, प्रभु नामजप तथा प्रभुभक्ति भी करता था। एक बार दुर्भिक्ष ऐसा पड़ा कि आसपास के गाँवों में दुष्काल की छाया पड़ने से खाने-पीने की किल्लत-सी हो गई। आजीविका की फिक्र में वह कुछ दूर के गाँव में लगा। इस कारण वह उक्त सन्त के पास नहीं पहुँच सका। उसकी मन में भावना हो गई कि धन होने पर ही निश्चिन्तता से धर्माराधन एवं प्रभुभजन हो सकता है। इस लगभग एक महीने के बाद वह उक्त सन्त के पास पहुँचा तो सन्त ने उससे कहा "भाई लाला! इतने दिन कहाँ रहे? इस बार तो तुम एक महीने से पधारे हो। भगवान का भजन व सत्संग सब कुछ छोड़ बैठे लगते हो!"

बनिये ने कहा—"महाराज! क्या करूँ? आप तो सब कुछ जानते हैं। इस बार मुझे फँसे हुए, कमाई-धमाई की चिन्ता लगी रही। [illegible] अब कुछ पास में पैसे हो जाएँ तो फिर सत्संग, भजन या पाप [illegible] कर लूँगा। मन में यही चिन्ता रहती थी। [illegible] [illegible] नहीं होगा, तब तक मैं क्या करूँ, मन में [illegible]।

वाग्गुप्ति (मौन) होने के कारण पूर्ण सत्यव्रत का तथा कुछ ग्रहण न करने से [illegible] अदत्तादानविरमण का पालन हो जाता है तथा मैथुन-त्याग होने से [illegible] तथा मूर्च्छा-त्याग होने से परिग्रह का लेशमात्र भी सेवन नहीं होता। [illegible] पांचों आस्रवों का त्याग करने से गृहस्थ श्रावक भी उपचार से महाव्रती [illegible] किन्तु चारित्रमोह के उदय के कारण वह पूर्ण संयमी साधु नहीं बन पाता। [illegible] पौषध की कालमर्यादा तीन दिन तक अष्टमभक्त प्रत्याख्यान (तेला) [illegible] मिलती है। जो भी हो, पौषधव्रतधारी श्रावक का इन्द्रियों एवं मन पर [illegible] आवश्यक है, सारे सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग भी अनिवार्य है। [illegible] आत्मचिन्तन, तत्त्व-मनन और परमात्मस्मरण में [illegible] बिताना चाहिए। पौषधव्रत स्वीकार करने के पश्चात् आजीविका, [illegible] [illegible] की चिन्ता से श्रावक सर्वथा मुक्त हो जाता है, [illegible] [illegible] लगाना चाहिए।

पौषधव्रती [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उपयोग [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आता है, [illegible]

6

श्रावक का मूर्तिमान औदार्य : अतिथिसंविभागव्रत

वैभव का लाभ मिले, वह तो सभी को अपना समझता है। मोहाध असुर सभी के लिए ही अपना पसीना बहाने और दिन-रात कमाते रहने की मनोवृत्ति संसार में जरूरतमंद की, प्रत्येक पिछड़े व्यक्ति की सेवा-सहायता करने में तत्पर हो जाता है।

जो सद्गृहस्थ अपने अन्तःकरण में परमार्थ बुद्धि का विकास कर परिवार और उदार दृष्टिकोण से जीवन की सार्थकता पर विचार करते हैं, वे अपनी आत्मा में परमार्थ को सक्रिय करने की भावना से प्रेरित होकर आत्मा का अनुभव करते हैं। उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ सहजरूप से परमार्थ से जुड़ी हुई गामिनी बन जाती हैं।

तीर्थंकर भगवान् जब आत्मानन्द की पराकाष्ठा पर पहुँचते हैं, तो समवसरण में पूर्ण आत्मानन्दता की दशा— मुनिजीवन के प्रथम दिन से लेकर पूर्व लाख पूर्व महीनों तक लगातार उदार और मुक्त हस्त से परमार्थ कल्याणमार्ग का विस्तार करते हैं।

यह है अतिथिसंविभागव्रत के माध्यम से उत्कृष्ट सुपात्र को दान देने का दान दिलाने की भावना करने का सुफल।

उत्कृष्ट सुपात्र न मिलने पर मध्यम व जघन्य सुपात्र को भी

परन्तु एक प्रश्न है कि ऐसे उत्कृष्ट सुपात्र संयमी मुनि का योग तो प्रतिदिन मिलना कठिन है, क्योंकि साधु-साध्वी तो किसी एक गाँव में बिना किसी विशेष चातुर्मास के चार माह बिताय, जैन काल में २९ दिन से अधिक रुकते नहीं। आज भारतवर्ष में अनेक ऐसे क्षेत्र भी हैं, जहाँ साधु-साध्वियों का विचरण भी नहीं होता। ऐसी दशा में उस अतिथिसंविभाग व्रत का अभ्यास प्रतिदिन कैसे हो सकता है? उस शंका के समाधान हेतु आचार्यों ने बताया कि उत्कृष्ट सुपात्र न मिलने पर मध्यम या जघन्य सुपात्र को भी शुद्धभाव से दान देना चाहिए।

साथ परलोक में आने वाली नहीं है तथा परिवार में मेरे पुत्र कमाने लायक हो गए हैं, तब भी उस सम्पत्ति के प्रति ममत्व रखकर वह सारी की सारी सम्पत्ति अपने लिए या अपने परिवार के लिए संचित करके न रखे, अपितु परिवार निर्वाह के लिए अमुक हिस्सा रखकर बाकी की समस्त सम्पत्ति के यथायोग्य हिस्से करके उचित सर्वहितकारी कार्यों में लगा दे।

अमेरिका के धनकुबेर कार्नेगी ने संचित धन को अपने पीछे छोड़ जाने के बारे में कहा है—"कोई आदमी धन कमा कर मर जाय और दूसरों के लिए लड़ने और धन को छोड़ जाय—इससे बड़ा गुनाह और कोई नहीं। मैं यह दावे के साथ कहता हूँ कि अपनी जिन्दगी में ही मैं अपनी सारी धन-दौलत [illegible] दूँगा।

चल मे, अंधेरी गुफा मे, किले मे, भूमि के गर्भ मे कही चला जाय या छिप जाय, कोई मदोन्मत्त हाथियो झुंड मे ही क्यो न छिप जाय, यह क्रूरकर्मा अतिक्रान्त काल देहधारियो के जीवन को खा जाता है, किसी को छोडता नही।"

किन्तु मृत्यु का आगमन जितना निश्चित है, उतना ही मृत्यु का समय अनिश्चित है, अनियत है। मृत्यु कब आ धमकेगी, उसका पता सर्व-साधारण मनुष्यो को नही होता, इसीलिए विचारक एव आराधक साधक अप्रमत्त एव सतर्क होकर पल-पल मे ही शरीर एव शरीर सम्बन्धित जड-चेतन पदार्थों के प्रति मोह-ममता मे ग्रस्त को हटाने का सतत प्रयत्न करते है। वे पहले से ही ज्ञान, ध्यान, समाधि और शान्ति मे लिप्त सावधान हो जाते है।

कई लोग कहा करते है कि बुढापा आने तक तो मृत्यु का कोई खतरा नही है, परन्तु यह कोरी भ्रान्ति है। अगर बुढापा आने तक मृत्यु का आगमन न हो तो कई लोगो को अपनी या विचारधारा साधक पहले से मृत्यु से सतर्क न रखे। ही यह सर्वत्र पूर्ण निश्चित रूप से न कहते—

पड़ा-पड़ा वर्षों तक सड़ता रहे, पीड़ित होता रहे, तो ऐसी दशा में दुःख या पीड़ा का अनुभव अत्यधिक होता है, जबकि अकस्मात् मृत्यु आ जाने पर दुःख या पीड़ा का अनुभव नहीं होता, या अत्यन्त कम हो जाता है।

परन्तु अज्ञानी जीव मृत्यु के कल्पित भय से काँपता है, वह मृत्यु के समय [illegible] शरीर और शरीर से सम्बद्ध परिवार, धन, जमीन-जायदाद, मकान, दुकान, [illegible] आदि के प्रति मोह-ममत्व के कारण अत्यन्त दुःखी होता है, विलाप करता है और [illegible] आँसू बहाता है। साथ ही उसकी उस मोहममत्वजनित वेदना को [illegible] उसके [illegible] रोने वाली बातें याद दिलाते हैं।

इसलिए ज्ञानी सम्यग्दृष्टि साधक मृत्यु को भयंकर या दुःखदायक [illegible] मानते। और मृत्यु के कल्पित भय से [illegible] शरीर [illegible] पदार्थों [illegible] [illegible] मृत्यु [illegible] [illegible]

पड़ा-पड़ा वर्षों तक सड़ता रहे, पीड़ित होता रहे, तो ऐसी दशा में दुःख या पीड़ा का अनुभव अत्यधिक होता है, जबकि अकस्मात् मृत्यु आ जाने पर दुःख या पीड़ा का अनुभव नहीं होता, या अत्यन्त कम हो जाता है।

परन्तु अज्ञानी जीव मृत्यु के कल्पित भय से काँपता है, तब मृत्यु के समय उस शरीर और शरीर से सम्बद्ध परिवार, धन, जमीन-जायदाद, मकान, दूकान, व्यवसाय आदि के प्रति मोह-ममत्व के कारण अत्यन्त दुःखी होता है, विलाप करता है, रोता है, चीखें चिल्लाता है। साथ ही उसकी उस मोहदशाजनित वेदना को दूर करने के लिए उसके सम्बन्धित जन बार-बार मोह में पड़ने वाली बातें याद दिलाते हैं।

इसीलिए ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मारक मृत्यु को अकारण या दुःखदायक नहीं मानता, परन्तु उसे उपकारी मानता है। और मृत्यु के कल्पित भय से भयभीत नहीं होता या उसके शरीर एवं शरीरसम्बद्ध पदार्थों के प्रति मोहजनित ममता या वैचित्त्य विचलित या पीड़ित नहीं होता। मृत्यु किसी तरह आती है और किसी के उपस्थित न करने से उपस्थित हो अत्यन्त साधारण सी बात है।

पारणे के दिन श्रावक सचित्ताहारवर्जित आहार करे, साधु उद्गमादि दोषरहित आहार करे। दूसरे चार वर्ष भी इसी प्रकार विभिन्न तपस्या करे, किन्तु पारणे में विगई (विकृति) रहित आहार करे। उसके बाद दूसरे दो वर्ष तक एकान्तर उपवास करके पारणे में आयम्बिल करे। ग्यारहवें वर्ष के पहले के ६ महीनों में उपवास बेले में आगे नहीं बढ़ना चाहिए, पारणे में ऊनोदरी सहित आयंबिल करे। उसके बाद उत्तर के ६ महीने में उत्कृष्ट तप यानी तेले में तेला अठाई तक करे, पारणे में अवश्य आयंबिल करे। निशीथचूर्णि में बारहवें वर्ष की संलेखना में उपवास करते आयंबिल में पारणा करे। कुछ आचार्यों का मत है कि बारहवें वर्ष की संलेखना में पहले के दो महीने में एक-एक कौर कम करता जाय, जब एक कौर पर आ जाय तब उसमें एक-एक सिक्थ (छोटा कण) अन्न कम-कम करते जाय, अन्तिम दिन सिर्फ एक सिक्थ अन्न का भक्षण करे। कुछ आचार्य कहते हैं कि १०-१२ वर्ष के संलेखना तप करे, तब चार मास तक एक दिन के अन्तर से [illegible] करे, तत्पश्चात् [illegible] के साथ निकाले, पारणे में खाने के लिए [illegible] इस प्रकार क्रमशः १२ वर्ष की संलेखना [illegible] विगयरहित [illegible] विगय सहित [illegible] (रोगी) साधु अपवाद करे। [illegible]

और चेष्टा रहती है, जबकि सल्लेखना तभी की जाती है, जब जीवन की न तो कोई आशा रहती है और न चेष्टा की जाती है। अकस्मात् कोई ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाए कि उपवास वगैरह तपश्चरण में निराशा में आशा उदय हो जाए तो उसमें प्राणत्याग करने (जल्दी मरने) की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि सल्लेखना आत्महत्या नहीं है, अपितु आई हुई मौत के सामने वीरतापूर्वक आत्मसमर्पण करना है। इस साधक शान्ति और आनन्द में समाधिपूर्वक प्राणत्याग करता है। मृत्यु से पहले ही उसे व्रतादि आराधन करना चाहिए, मर जाता है। मरण निश्चित है, किन्तु मरण काल अनिश्चित है, इसलिए दीर्घकाल या अल्पकाल की पूर्वतैयारी से बिना समाधि मरण का अपूर्वलाभ प्राप्त होना असम्भव है। अनादिकाल से देहात्मबुद्धि और ममत्व, परपदार्थों तथा उनके भोगों में गाढ आसक्ति, मोह या द्वेषपूर्वक विरक्तता, घृणा आदि सहसा मिट जाए, ऐसा होना सुलभ नहीं है। इसलिए उस प्रकार के संस्कारों की शीघ्र या निवृत्ति के लिए पूर्वतैयारी के रूप में अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। इस अभ्यास धर्मश्रद्धा और धर्मरुचि पूर्ण संस्कार जागृत होने से, उपसर्ग-परीषह आदि के उपस्थित होने पर या मरण के उपस्थित निमित्त से, या अन्तिम घड़ियों में समाधि के साथ या समाधि के दुष्परिणाम से उत्पन्न होती है।

उत्पन्न होता है और उस भावना की सिद्धि के कारण ही यह पूर्ण बनता है। इसलिए यह स्व-हिंसा नहीं है।

आत्महत्या तो किसी कषायावेश का परिणाम होता है, जबकि संलेखना त्याग और दया का परिणाम है। जहाँ अपने जीवन की कोई उपयोगिता न रह गई हो, दूसरों को व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ता हो, दूसरों से सेवा लेनी पड़ती हो, उस समय उपवास आदि द्वारा शरीर छोड़ना दूसरों पर दया है।

अतः संलेखना-संथारा करने में आत्मघात का दोष सम्भव नहीं है। यदि शान्त अनशन (संथारा) भी किसी ऐहिक-पारलौकिक सम्पत्ति या पदार्थ की इच्छा से, कामिनी की कामना से या अन्य लौकिक अभ्युदय की इच्छा से आसक्तिपूर्वक किया जाए या मद अथवा लोभ से किया जाए तो वह भी हिंसा हो सकता है। परन्तु जैन-धर्म राग-द्वेष मोहादि से युक्त होकर मरने की आज्ञा नहीं देता। अतः जो पुरुष विष, शस्त्र प्रयोग, अग्निप्रवेश, कूपपतन आदि प्रयोगों द्वारा प्राणनाश करता है, वह आत्महत्या करता है। उपासकदशा में स्पष्ट कहा है—

करता जाती। अत श्रावक मरण के अन्त समय मे होने वाली सलेखना को प्रीति पूर्वक सेवन करने वाला होता है।

गृहस्थ श्रावक या गृहत्यागी साधु जो प्रीतिपूर्वक संलेखना को स्वीकार करता है, वह अपने को कृतकृत्य समझता है, अपने जन्म को सफल मानता है, उस तुम (समाधि) मरण से अपने को धन्य मानता है।

सलेखनामरण (संथारा) के प्रकार

सलेखना द्वारा समाधिपूर्वक मरण के तीन प्रकार है—भक्तप्रत्याख्यान, इगिनीमरण एव प्रायोपगमन (पादपोपगमन)।

इन तीनो मे मात्र अन्तर समझ लेना चाहिए। भोजन का क्रमश त्याग करते शरीर को कृश करने की अपेक्षा तीनो समान है। अन्तर है—शरीर से परि उपेक्षा मात्र मे। जिस समाधिमरण मे अपने और दूसरे दोनो के द्वारा किए गए उपकार की अपेक्षा रहती है, उसे भक्तप्रत्याख्यान (सन्यास) समाधिमरण कहते हैं। जिसमे अपने द्वारा किये गए उपकार की अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरे के द्वारा किए गए उपकार की अपेक्षा नही रहती, वह इगिनी समाधिमरण है तथा जिसमे दोनो के उपकार की अपेक्षा से रहित समाधिमरण है, उसे प्रायोपगमन [illegible]।

शरीर धर्मपालन करने में समर्थ न रहा, बोझरूप हो गया, आतंकित या अशक्त जीर्ण, अशक्त हो गया।"

इस प्रकार शरीर (ममत्व) का व्युत्सर्ग करके दो बार नमोत्थुण के पाठ से विविध तीर्थंकरों और सिद्धों की स्तुति एवं प्रणिपात करे।

इसके बाद सदा सतर्क एवं सावधान रहे। यदि श्रावक संलेखना कर रहा हो तो वह ध्यान रखे कि परिणामों की विशुद्धि के बिना उत्कट तप करने से काय को सजा तो हो जाएगी, कषाय संलेखना नहीं। शरीर की संलेखना निरतिचार करते हुए भी बिना सावधान रहे अन्तरंग में रागद्वेषादि रूप भाव परिग्रह का निरीक्षण (चिन्तन) नहीं करता, वह व्यर्थ ही अपने शरीर को कृश करके दण्ड देता है। क्योंकि कषायों को कृश करने के लिए ही शरीर को कृश करना है।

संलेखना-संथारा में कुछ विशिष्ट भावनाएँ

समाधिमरण की मूल नींव है—सम्यक् आत्मश्रद्धा—देह और आत्मा भिन्न रूप श्रद्धा, अथवा सम्यक् धर्मश्रद्धा।

जितना भी बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह है, वह सब राग-द्वेष को पैदा करने वाला है। इसलिए कौल्विषकी, आभियोगिकी, आसुरी और सम्मोहनी इन संक्लिष्ट कुत्सित भावनाओं का त्याग करके, तप, श्रुताभ्यास, निर्भयता, एकत्व, धृतिबल [illegible] अशुभ भावनाओं का [illegible]